मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८९ पहला संस्करण ५२५०
सं० १९९४ दूसरा संस्करण ३०००
मूल्य ।॥) बारह आना
सजिल्द १) एक रुपया

मिलनेका पता—
गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

विषय-सूची

अध्याय विषय	श्लोक	पृष्ठ-संख्या
१–यदुकुलको ऋषियोंका शाप ···	··· २४	३
२–वसुदेवजीको देवर्षि नारदका उपदेश	··· ५५	१०
३–माया, मायासे पार होनेका उपाय तथा ब्रह्म और कर्मका निरूपण	··· ५५	२५
४–भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन	··· २३	४१
५–भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और पूजा-विधिका वर्णन	५२	५०
६–श्रीकृष्ण और उद्धवके संवादका प्रारम्भ	··· ५०	६४
७–अवधूतोपाख्यानका प्रारम्भ	··· ७४	७९
८–अवधूतोपाख्यानका मध्य	··· ४४	९८
९–अवधूतोपाख्यानकी समाप्ति	··· ३३	११०
०–संसारका मिथ्यात्व-निरूपण	··· ३७	१२०
१–बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण	··· ४९	१२९
२–सत्सङ्गकी महिमा और कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्यागकी विधिका वर्णन	··· २४	१४२
३–हंसोपाख्यान ···	··· ४२	१५०
४–भक्तिकी महिमा तथा ध्यानयोगका वर्णन	··· ४६	१६२
५–सिद्धियोंका वर्णन	··· ३६	१७४
६–विभूतियोंका वर्णन	··· ४४	१८४
७–वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण ···	··· ५८	१९५

अध्याय	विषय	श्लोक	पृष्ठ-संख्या
१८	वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म ··· ···	४८	२१०
१९	भक्तिके साधन और यम-नियमादिका वर्णन	४५	२२३
२०	ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका वर्णन	३७	२३५
२१	द्रव्य और देश आदिके गुण-दोषोंका वर्णन ···	४३	२४५
२२	तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक ···	६०	२५७
२३	एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास ··· ···	६२	२७४
२४	सांख्ययोग ··· ···	२९	२९२
२५	तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण ···	३६	२९९
२६	ऐल गीत ··· ···	३५	३०८
२७	क्रियायोगका वर्णन ··· ···	५५	३१७
२८	परमार्थनिरूपण ··· ···	४४	३३१
२९	भागवत-धर्म-निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रम-गमन ··· ···	४९	३४४
३०	यदुवंश-विनाश ··· ···	५०	३५८
३१	श्रीभगवान्‌का स्वधाम-गमन ··· ···	२८	३७१
	कुल श्लोक सं०	१३६७	



प्रथम संस्करणका निवेदन

यह प्रसिद्ध है कि वेदोंका विभाग, ब्रह्मसूत्र, महाभारत और अन्यान्य महापुराणोंकी रचना करनेपर भी जब श्रीव्यास-देवजीको शान्ति नहीं मिली, तब उन्होंने प्रेमावतार भगवद्भक्त-शिरोमणि देवर्षि नारदजीके उपदेशसे अन्तमें श्रीमद्भागवतकी रचना की, जिससे उन्हें शान्ति प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत स्कन्द, पद्म आदि पुराणोंसे छोटा होनेपर भी वस्तुतः अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। कुछ अनुभवी महानुभावोंके मतमें तो यह पुराण वेदोंकी समता रखनेवाला है और भगवान्‌को अत्यन्त ही प्रिय है। इसमें ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग आदिके साथ ही भगवान्‌के अद्भुत चरित्रोंका ऐसा सुन्दर वर्णन है कि जिसको पढ़ते-पढ़ते मनुष्य आनन्द-सागरमें डूबने लगता है। विद्वानों-की बुद्धिकी परीक्षा भी अन्य ग्रन्थोंमें नहीं होकर इसीमें होती है, इसीसे 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' प्रसिद्ध है। वैष्णव-आचार्यों-ने तो वेद, गीता और ब्रह्मसूत्रकी प्रस्थानत्रयीके साथ भागवतको जोड़कर उसको 'प्रस्थानचतुष्टय' बना दिया है। उनके मतमें भागवतके बिना प्रस्थानत्रयी अपूर्ण है। श्रीमद्भागवतमें कुल बारह स्कन्ध हैं, बारहों ही रससे पूर्ण हैं। जिनमें दशम और एकादश तो सर्वोपरि हैं। दशममें पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलाओंका वर्णन है और एकादशमें उनके परमानन्द और परम शान्ति प्रदान करनेवाले उपदेशोंका।

जिस प्रकार गीतामें भगवान्‌ने भक्तश्रेष्ठ सखा अर्जुनकी भक्तिपर रीझकर उसके सामने अपना दिल खोलकर रख दिया है, इसी प्रकार एकादशमें भक्तप्रवर सखा उद्धवको उन्होंने विस्तारपूर्वक विविध उपदेश दिये हैं। एकादश स्कन्धके कुल ३१ अध्यायोंमें—अध्याय ७ से लेकर २९ तक पूरे तेईस अध्यायोंमें केवल श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद ही है। इसके सिवा श्रीवासुदेव-नारद-संवादमें राजा निमि और नौ योगेश्वरोंका भी बड़ा ही उपदेशपूर्ण कथनोपकथन है। एकादश स्कन्धके उपदेशोंकी वर्णन-शैली बड़ी ही सुगम, सुबोध और हृदयग्राही है। अवधूतके चौबीस गुरुओंका इतिहास इसीमें है। इस स्कन्धके उपदेशोंमेंसे कुछको भी कार्यान्वित कर लेनेसे मनुष्य-जीवन सहज ही सफल हो सकता है। इसीसे महात्माओंने इसको 'मुक्ति-स्कन्ध' कहा है।

कल्याणकामी पाठक-पाठिकागण इस एकादश स्कन्धको प्रेमसे पढ़कर यथार्थ लाभ उठावें और इसका प्रचारकर पुण्य और यशके भागी हों। यह स्मरण रखना चाहिये कि सच्चा लाभ और प्रचार उपदेशोंको कार्यान्वित करनेमें ही है।

यह जानकर सबको प्रसन्नता होनी चाहिये कि गीताप्रेस-की ओरसे श्रीमद्भागवतके बारहों स्कन्धोंका इसी प्रकार मूल-सहित सरल हिन्दी-भाषान्तर प्रकाशित करनेका प्रबन्ध हो रहा है। कुछ स्कन्धोंका अनुवाद हो चुका है। शेषका अनुवाद होनेपर पूरा ग्रन्थ प्रकाशित किया जा सकेगा।

हनुमानप्रसाद पोद्दार



द्वितीय संस्करणका निवेदन

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रके कृपाकटाक्षसे श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। पूर्वसंस्करणमें कुछ अनुवादकी भूलें रह गयी थीं। इस वार उन्हें यथासाध्य सुधारनेका प्रयत्न किया गया है। इसके सिवा गवर्नमेण्ट संस्कृत कालिज वनारसके प्रिंसिपल महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराजकी सम्मतिसे एक प्राचीन हस्तलिखित प्रतिसे पाठान्तर भी दिये गये हैं। यह प्रति सरस्वतीपुस्तकालय काशीमें है और इस समय श्रीमद्भागवतकी जितनी हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हैं उनमें सबसे प्राचीन समझी जाती है। इसकी लिपिको देखकर पुरातत्त्वज्ञोंका अनुमान है कि यह प्रति प्रायः आठ सौ वर्ष पुरानी है। कुछ लोगोंका ऐसा विचार है कि श्रीमद्भागवत भगवान् व्यासकी रची हुई नहीं है, इसके रचयिता बोपदेवजी हैं। परन्तु प्रत्नवेत्ताओंके कथनानुसार इस प्रतिका लेखनकाल बोपदेवजीके जन्मसे पूर्व सिद्ध होता है। इससे उनका विचार भ्रमपूर्ण ठहरता है और इस ग्रन्थरत्नकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। आशा है प्रेमी पाठकोंको हमारा यह प्रयास रुचिकर होगा।

प्रकाशक



॥ श्रीहरिः ॥

श्रीमद्भागवतान्तर्गत

एकादश स्कन्ध



निरस्तनिखिलालोकं लोकालोकं महौजसम् ।
पूर्णानन्दं किमपि तन्नीलरत्नमहं भजे ॥





जगद्गुरु श्रीकृष्ण

ॐ

पहला अध्याय

यदुकुलको ऋषियोंका शाप

श्रीबादरायणिरुवाच

कृत्वा दैत्यवधं कृष्णः सरामो यदुभिर्वृतः ।
भुवोऽवतारयद्भारं जविष्ठं जनयन्कलिम् ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले-हे राजन् ! बलरामजीके सहित तथा यादवोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने दैत्योंको मारकर और [कौरव-पाण्डवोंमें] घोर युद्ध (महाभारत) कराकर पृथिवीका भार उतार दिया ।

ये कोपिताः सुबहु पाण्डुसुताः सपत्नै-
र्दुर्द्यूतहेलनकचग्रहणादिभिस्तान् ।
कृत्वा निमित्तमितरेतरतः समेता-
न्हत्वा नृपान्निरहरत्क्षितिभारमीशः ॥ २ ॥

कपट-द्यूत, अपमान और द्रौपदीके केश खींचने आदिके कारण जो अपने शत्रुओं (कौरवों) से अत्यन्त क्रुद्ध हो गये थे

उन पाण्डवोंको निमित्त बनाकर दोनों ओरसे युद्धमें आये हुए राजाओंको मारकर भगवान्‌ने पृथिवीका भार हर लिया ।

भूभारराजपृतना यदुभिर्निरस्य
गुप्तैः स्वबाहुभिरचिन्तयदप्रमेयः ।
मन्येऽवनेर्ननु गतोऽप्यगतं हि भारं
यद्यादवं कुलमहो अविषह्यमास्ते ॥ ३ ॥

अपनी भुजाओंसे सुरक्षित यादवोंद्वारा पृथिवीकी भारभूत अन्य राजाओंकी सेनाका संहार कराकर अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्णने विचारा कि अभी तो मैं पृथिवीका भार उतर जानेपर भी नहीं उतरेके समान ही समझता हूँ, क्योंकि अभी असह्य यादवकुल तो बना ही हुआ है ।

नैवान्यतः परिभवोऽस्य भवेत्कथञ्चि-
न्मत्संश्रयस्य विभवोन्नहनस्य नित्यम् ।
अन्तःकलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु-
स्तम्बस्य वह्निमिव शान्तिमुपैमि धाम ॥ ४ ॥

नित्य मेरे आश्रित रहनेवाले और वैभवसे उच्छृङ्खल हुए इस यदुकुलका दमन किसी दूसरेसे कदापि नहीं हो सकता । इसलिये बाँसोंके वनमें उत्पन्न हुए अग्निके समान इनमें पारस्परिक कलह उत्पन्न कर मैं शान्तिपूर्वक अपने धामको जाऊँगा ।

एवं व्यवसितो राजन्सत्यसंकल्प ईश्वरः ।
शापव्याजेन विप्राणां संजह्रे स्वकुलं विभुः ॥ ५ ॥

हे राजन्! सत्यसंकल्प और सर्वसमर्थ परमेश्वर भगवान् कृष्णने इस प्रकार निश्चय कर ब्राह्मणोंके शापके बहाने अपने कुलका संहार किया।

स्वमूर्त्या लोकलावण्यनिर्मुक्त्या लोचनं नृणाम्।
गीर्भिस्ताः स्मरतां चित्तं पदैस्तानीक्षतां क्रियाः ॥ ६ ॥
आच्छिद्य कीर्तिं सुश्लोकां वितत्य ह्यञ्जसा नु कौ।
तमोऽनया तरिष्यन्तीत्यगात्स्वं पदमीश्वरः ॥ ७ ॥

संसारके सौन्दर्यको तिरस्कृत करनेवाली अपनी मूर्तिसे लोगोंके नेत्रों तथा अपनी दिव्यवाणी (उपदेश) से उन वाणियोंका स्मरण करनेवाले भक्तजनोंके चित्तोंको अपने वशमें करके और अपने चरणचिह्नोंसे उनका दर्शन करनेवालोंकी अन्य क्रियाओंको रोककर तथा अपनी कविजनकीर्तित कमनीय कीर्तिका लोकमें इस विचारसे विस्तार कर कि इसके द्वारा लोग अनायास अज्ञानान्धकारके पार हो जायँगे, भगवान् अपने धामको चले गये।

राजोवाच

ब्रह्मण्यानां वदान्यानां नित्यं वृद्धोपसेविनाम्।
विप्रशापः कथमभूद्‌वृष्णीनां कृष्णचेतसाम् ॥ ८ ॥

राजा परीक्षितने कहा—भगवन्! जो बड़े ब्राह्मणभक्त, उदार और नित्य गुरुजनोंकी सेवा करनेवाले थे तथा जिनका चित्त सदा कृष्णमें ही रत रहता था उन यादवोंको ब्राह्मणोंका शाप कैसे हुआ?

यन्निमित्तः स वै शापो यादृशो द्विजसत्तम।
कथमेकात्मनां भेद एतत्सर्वं वदस्व मे ॥ ९ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! वह शाप जैसा था और जो उसका कारण था तथा कैसे उन एकचित्त यादवोंमें फूट पड़ी ? ये सब बातें मुझसे कहिये ।

श्रीशुक उवाच[1]

बिभ्रद्वपुः सकलसुन्दरसंनिवेशं
कर्माचरन्भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! जिसमें सम्पूर्ण सुन्दर सामग्रियोंका समावेश है ऐसा [अति सुन्दर] शरीर धारण कर पूर्णकाम होनेपर भी लोकमें अनेकों मंगलकृत्य करते हुए तथा श्रीद्वारकापुरीमें रहकर लीला-विहार करते हुए उदारकीर्ति भगवान् कृष्णने अपने कुलका नाश करनेकी इच्छा की, क्योंकि अब उनके लिये यही कार्य शेष रह गया था ।

कर्माणि पुण्यनिवहानि सुमङ्गलानि
गायज्जगत्कलिमलापहराणि कृत्वा ।
कालात्मना निवसता यदुदेवगेहे
पिण्डारकं समगमन्मुनयो विसृष्टाः[2] ॥११॥

विश्वामित्रोऽसितः कण्वो दुर्वासा भृगुरङ्गिराः ।
कश्यपो वामदेवोऽत्रिर्वसिष्ठो नारदादयः ॥१२॥

१-पा०—'श्रीबादरायणिरुवाच' ।
२-पा०—'निसृष्टाः' ।

वसुदेवजीके यहाँ कालरूपसे विराजमान भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे अनेकों मंगलमय पुण्यकर्म किये जिनका गान करनेसे ही संसारके कलि-कलुष शान्त हो जाते हैं। [उन कर्मोंको करानेके लिये आये हुए] विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अंगिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ और नारद आदि मुनिजन भगवान्‌से विदा होकर पिण्डारकक्षेत्रमें जाकर रहने लगे।

क्रीडन्तस्तानुपव्रज्य कुमारा यदुनन्दनाः।
उपसंगृह्य पप्रच्छुरविनीता विनीतवत् ॥१३॥
ते वेषयित्वा स्त्रीवेषैः साम्बं जाम्बवतीसुतम्।
एषा पृच्छति वो विप्रा अन्तर्वत्न्यसितेक्षणा ॥१४॥
प्रष्टुं विलज्जती साक्षात्प्रब्रूतामोघदर्शनाः।
प्रसोष्यन्ती पुत्रकामा किंस्वित्संजनयिष्यति ॥१५॥

[एक दिन] वहाँ खेलते हुए यदुवंशके कुछ दुर्विनीत बालकोंने जाम्बवतीके पुत्र साम्बका स्त्रीवेश बनाकर उन मुनीश्वरोंके पास जा अति विनीत पुरुषोंके समान उनके चरण स्पर्शकर पूछा, 'हे विप्रगण! यह श्यामलोचना सुन्दरी गर्भवती है; यह आपसे (हमारे द्वारा) एक बात पूछना चाहती है क्योंकि स्वयं पूछनेमें इसे लज्जा मालूम होती है। हे अमोघदर्शन मुनिगण! यह पुत्रकामा बाला अब प्रसव करनेवाली है, आप बतलाइये यह कौन-सी सन्तान उत्पन्न करेगी [पुत्र या कन्या ?]'

एवं प्रलब्धा मुनयस्तानूचुः कुपिता नृप।
जनयिष्यति वो मन्दा मुसलं कुलनाशनम् ॥१६॥

हे राजन्! उनकी इस वञ्चनासे कुपित होकर मुनियोंने

कहा—'रे मन्दमति बालको ! यह तुम्हारे कुलका नाश करनेवाला एक मूसल जनेगी ।'

तच्छ्रुत्वा तेऽतिसन्त्रस्ता विमुच्य सहसोदरम् ।
साम्बस्य ददृशुस्तस्मिन्मुसलं खल्वयस्मयम्[1] ॥१७॥

यह सुनते ही वे बालक अत्यन्त डर गये और उन्होंने तुरन्त ही साम्बका पेट खोलकर देखा तो वास्तवमें उसमें एक लोहेका मूसल मिला ।

किं कृतं मन्दभाग्यैर्नः किं वदिष्यन्ति नो जनाः ।
इति विह्वलिता गेहानादाय मुसलं ययुः ॥१८॥

तब वे 'हम मन्द-भाग्योंने क्या किया, हमारे बड़े-बूढ़े हमें क्या कहेंगे ?' इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस मूसलको लेकर घरको चले गये ।

तच्चोपनीय[2] सदसि परिम्लानमुखश्रियः ।
राज्ञ आवेदयाञ्चक्रुः सर्वयादवसन्निधौ ॥१९॥

तदनन्तर, जिनके मुखकी कान्ति अति मलिन हो गयी है; ऐसे वे यादवकुमार उस मूसलको लेकर राजसभामें आये और समस्त यादवोंके समीप राजा उग्रसेनसे वह सारा प्रसंग कह सुनाया ।

श्रुत्वामोघं विप्रशापं दृष्ट्वा च मुसलं नृप ।
विस्मिता भयसंत्रस्ता बभूवुर्द्वारकौकसः ॥२०॥

हे राजन् ! ब्राह्मणोंका अमोघ शाप सुनकर और उस मूसलको देखकर समस्त द्वारकावासी विस्मित होकर भयसे व्याकुल हो गये ।

१-पा०—'खल्वयोमयम्' । २-पा०—'तं चोपनीय' ।

तच्चूर्णयित्वा मुसलं यदुराजः स आहुकः ।
समुद्रसलिले प्रास्यल्लोहं चास्यावशेषितम् ॥२१॥

तब यदुराज उग्रसेनने उस मूसलका चूरा कराकर उसे और बाकी बचे हुए लोहेके टुकड़ोंको समुद्रमें फिकवा दिया ।

कश्चिन्मत्स्योऽग्रसील्लोहं चूर्णानि तरलैस्ततः ।
उह्यमानानि वेलायां लग्नान्यासन्किलैरकाः ॥२२॥

उस लोहेके टुकड़ेको कोई मत्स्य निगल गया तथा मूसलका चूरा तरंगोंसे बहकर समुद्रतटपर लग गया । उससे वहाँ सेंठे उपज आये।

मत्स्यो गृहीतो मत्स्यघ्नैर्जालेनान्यैः सहार्णवे ।
तस्योदरगतं लोहं स शल्ये लुब्धकोऽकरोत् ॥२३॥

उस मत्स्यको दूसरी मछलियोंके साथ मछेरोंने जालमें पकड़ लिया और उसके पेटमें जो लोहेका टुकड़ा था उसे उस [जरा नामक] व्याधने अपने बाणकी नोकपर लगा लिया ।

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा ।
कर्तुं नैच्छद्विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥२४॥

इन सब बातोंको जाननेवाले भगवान्ने उस विप्र-शापको बदलनेमें समर्थ होकर भी उसे अन्यथा करना न चाहा, प्रत्युत उन कालरूप प्रभुने उसका अनुमोदन ही किया ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥



१–पा०—'तं चूर्णयित्वा'। २–पा०—'लौहं शूलेषु'।

दूसरा अध्याय

वसुदेवजीको देवर्षि नारदका उपदेश

श्रीशुक उवाच

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन ! भगवान् कृष्णकी भुजाओंसे सुरक्षित द्वारकापुरीमें देवर्षि नारद श्रीकृष्णोपासनाकी लालसासे प्रायः सदा ही रहा करते थे ।

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

हे राजन् ! सब ओर मृत्युसे घिरा हुआ ऐसा कौन इन्द्रियवान् प्राणी होगा जो भगवान् मुकुन्दके सुरवरसंसेव्य चरण-कमलोंको न भजेगा ?

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक दिन अपने घर पधारे हुए देवर्षि नारदकी पूजा कर श्रीवसुदेवजी सुखपूर्वक आसनपर बैठे हुए देवर्षिको प्रणाम कर इस प्रकार कहने लगे ।

वसुदेव उवाच

भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४ ॥

१–प्राचीन प्रतिमें नहीं हैं ।

वसुदेवजी बोले-भगवन्! पुत्रोंके लिये पिता-माताके और दीन-दुखियोंके लिये भगवत्परायण महात्माओंके आगमनके समान आपका आगमन समस्त पुरुषोंके कल्याणके लिये ही होता है।

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥ ५॥

देवताओंके चरित्र प्राणियोंके सुख-दुःख दोनोंहीके कारण होते हैं परन्तु आप-जैसे भगवत्प्राण साधुपुरुषोंके आचरण उनके सुखके ही हेतु होते हैं।

भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान्।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः॥ ६॥

देवताओंको जो पुरुष जिस प्रकार भजते हैं वे देवगण भी उन्हें वैसा ही फल देते हैं; वे तो छायाके समान कर्मोंका अनुसरण करनेवाले हैं, किन्तु साधुजन [स्वभावसे ही] दीनोंपर कृपा करनेवाले होते हैं।

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव।
याञ्छ्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते विश्वतो भयात्॥ ७॥

ब्रह्मन्! [यद्यपि आपके दर्शनमात्रसे ही मैं पवित्र हो गया हूँ] तथापि आपसे भागवत-धर्मोंके विषयमें पूछना चाहता हूँ, जिनका श्रद्धापूर्वक श्रवण करनेसे मनुष्य सर्वथा भयसे मुक्त हो जाता है।

१-पा०—'देवांस्तांस्तथैव विमत्सराः'। २-पा०—'सर्वतः'।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

मैंने देवमायासे मोहित होकर अपने पूर्वजन्ममें मुक्तिप्रद भगवान्का संतानके लिये ही पूजन किया था, मोक्षके लिये नहीं ।

यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतो भयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

अतः हे सुव्रत ! आप हमें ऐसा उपदेश दीजिये जिससे हम नाना प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण और सब ओर भयोंसे व्याप्त इस संसारसे अनायास ही मुक्त हो जायँ ।

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥१०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! बुद्धिमान् वसुदेवजीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर भगवान्के गुणोंसे उनका स्मरण कराये हुए देवर्षि नारदजी प्रसन्न होकर उनसे बोले ।

नारद उवाच

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥११॥

नारदजी बोले—हे यादवश्रेष्ठ ! आपका यह विचार बहुत ठीक है कि आप संसारको पवित्र करनेवाले भागवत-धर्म पूछ रहे हैं ।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ॥१२॥

हे वसुदेव ! श्रवण, पठन, स्मरण, आदर अथवा अनुमोदन किये जानेपर यह भागवत-धर्म तत्काल ही विश्वके द्रोहीको भी पवित्र कर देता है ।

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥१३॥

जिनके चरित्र अथवा नाम सुनने या गान करनेसे ही पवित्र करनेवाले हैं उन परम कल्याणकारी भगवान् नारायणका आज तुमने मुझे स्मरण करा दिया है ! [यह मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है ।]

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥१४॥

इस विषयमें महात्मा राजा विदेह और ऋषभ-पुत्रोंके संवाद-रूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण देते हैं ।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिर्ऋषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥१५॥

स्वायम्भुवमनुके जो प्रियव्रत नामक पुत्र थे उनसे आग्नीध्रका जन्म हुआ । तथा आग्नीध्रके नाभि और नाभिके ऋषभजी हुए ।

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्वेदपारगम्[1] ॥१६॥

कहते हैं, भगवान् वासुदेवके अंशने ही मोक्षधर्मका उपदेश

१–पा०—'ब्रह्मपारगम्' ।

करनेके लिये ऋषभजीके रूपमें अवतार लिया था। उनके सौ पुत्र थे और वे सभी वेदके पारगामी थे।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥१७॥

उनमें भगवान्‌के परम भक्त भरतजी सबसे बड़े थे। उन्हींके नामसे यह अद्भुत देश भारतवर्ष नामसे विख्यात हुआ है। *

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम्।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥१८॥

उन्होंने इस भुक्तभोगा पृथिवीको त्यागकर वनमें जा तपस्याद्वारा श्रीहरिकी उपासना की और तीन जन्म पश्चात् मोक्षपद प्राप्त किया।

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥१९॥

उन (शेष निन्यानवे) मेंसे नौ इस भूमण्डलके सब ओर नवों द्वीपोंके अधिपति हुए और इक्यासी कर्मतन्त्रोंके रचयिता ब्राह्मण हो गये।

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः।
श्रमणा वातरशना आत्मविद्याविशारदाः ॥२०॥

तथा नौ परमार्थका निरूपण करनेवाले महाभाग मुनिवर हुए; वे आत्मविद्यामें श्रम करनेवाले, दिगम्बर और अध्यात्मविद्यामें कुशल थे।

---

*इससे पहले भारतवर्षको अजनाभखण्ड कहते थे। देखिये स्क० ५ अ० ७ श्लो० ३।

कविर्हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥२१॥

[उनके नाम ये थे—] कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ।

एते वै भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम् ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥२२॥

ये सत् (व्यक्त) और असत् (अव्यक्त) रूप सम्पूर्ण संसारको अपनेसे अभिन्न भगवद्रूप देखते हुए पृथिवीपर विचरते थे।

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य-
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥२३॥

जिनकी स्वेच्छागतिकी कोई रोक-टोक नहीं थी ऐसे ये जीवन्मुक्त महात्मा देवता, सिद्ध, साध्यगण, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर तथा नागोंके लोकोंमें तथा मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण और गौओंके स्थानोंमें यथेच्छ विचरने लगे ।

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥२४॥

एक बार वे अजनाभखण्ड (भारतवर्ष) में महात्मा राजा निमिके यहाँ, जो ऋषियोंद्वारा यज्ञ करा रहे थे, अचानक जा पहुँचे।

तान्दृष्ट्वा सूर्यसंकाशान्महाभागवतान्नृपः ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥२५॥

उन सूर्यसदृश तेजस्वी महाभागवतोंको देखकर यजमान (राजा), ब्राह्मणगण और [मूर्तिमान् आहवनीयादि] अग्नि सब-के-सब खड़े हो गये ।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः संपूजयाञ्चक्र आसनस्थान्यथार्हतः ॥२६॥

महाराज विदेहने उन्हें नारायणपरायण जानकर आसनोंपर विराजमान हुए उन मुनिगणका अति प्रेमपूर्वक यथायोग्य पूजन किया ।

तान्रोचमानान् स्वरुचा[१] ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।
पप्रच्छ परमप्रीतः प्रश्रयावनतो नृपः ॥२७॥

अपने शरीरके तेजके कारण ब्रह्माजीके पुत्रोंके समान सुशोभित उन नवों योगीश्वरोंसे राजा जनकने अति प्रसन्न चित्तसे नम्रतापूर्वक पूछा ।

विदेह उवाच

मन्ये भगवतः साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विषः ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥२८॥

विदेह बोले—भगवन् ! आपलोगोंको मैं साक्षात् भगवान् मधुसूदनके पार्षद ही समझता हूँ; क्योंकि भगवान् विष्णुके पार्षद संसारके प्राणियोंको पवित्र करनेके लिये घूमा करते हैं ।

१-पा०—'वपुषा' ।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥२९॥

जीवको प्रथम तो यह क्षणभंगुर मनुष्यशरीर ही मिलना दुर्लभ है, [क्योंकि यही मोक्षका साधन है] और उसमें भी भगवद्भक्तोंका दर्शन मिलना तो मैं और भी दुर्लभ समझता हूँ ।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामि भवतोऽनघाः ।
संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥३०॥

अतः हे निष्पाप महानुभावो ! मैं आपसे यह पूछता हूँ कि संसारमें आत्यन्तिक कल्याण किसमें है ? क्योंकि इस जगत्में महात्माओंका आधे क्षणका सत्संग भी मनुष्योंके लिये बड़े भारी खजानेके समान है ।

धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय[1] दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥३१॥

यदि हमारे सुननेके योग्य हों तो हमें उन भागवत धर्मोंको सुनाइये जिनसे प्रसन्न होकर अजन्मा भगवान् अपने शरणागत भक्तको अपना स्वरूपतक दे डालते हैं ।

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥३२॥

श्रीनारद बोले—हे वसुदेव ! निमिके इस प्रकार पूछनेपर उन महात्माओंने प्रसन्नतापूर्वक साधु-साधु कहते हुए सभासद् और ऋत्विजोंसहित राजा निमिसे इस प्रकार कहा—

१. पा०—'प्रपन्नाय भगवान्' ।

कविरुवाच

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावा-
द्विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥३३॥

कविने कहा—हे राजन्! इस संसारमें मैं तो भगवान् अच्युतके चरण-कमलोंकी नित्य उपासनाको ही सर्वथा भयशून्य मानता हूँ, जिससे कि असत् (देहादि) में आत्मभावनाके कारण जिनकी बुद्धि विचलित हो गयी है उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है ।

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान्हि तान् ॥३४॥

अज्ञ पुरुषोंको भी तुरन्त आत्मलाभ करानेके लिये जो उपाय भगवान्‌ने बतलाये हैं उन्हींको भागवत धर्म समझो ।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥३५॥

हे राजन्! उन (भागवत धर्मो) में आस्था हो जानेपर फिर मनुष्यको किसी प्रकारका खटका नहीं रहता । वह इस संसारमें आँख मूँदकर दौड़नेपर भी* न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है ।

* आँख मूँदकर दौड़नेका अभिप्राय यहाँ निःशंक होकर केवल भक्तिकी ओर बढ़ना है; पापोंमें प्रवृत्त होना नहीं ।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा[1]
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥३६॥

[इस धर्मका पालन करनेवालेको चाहिये कि] शरीरसे, मनसे, वाणीसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा [अध्यास-जनित ब्राह्मणत्वादि] स्वभावसे जो कुछ कर्म करे वह सब परमात्मा नारायणके ही लिये है—इस प्रकार समर्पण कर दे ।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥३७॥

भगवान्‌से भिन्न किसी अन्य वस्तुकी सत्ता माननेसे भय होता है और जो पुरुष भगवान्‌से विमुख है उसीको उनकी माया-से भगवान्‌की विस्मृति और [मैं देह हूँ—ऐसा] विपरीत ज्ञान होता है । अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि अपने गुरुदेवमें ही इष्टबुद्धि करके उन श्रीहरिको ही अनन्य भक्तिभावसे भजे ।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्म संकल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥३८॥

---

१. पा०—‘श्च’ ।

यह द्वैत-प्रपञ्च वास्तवमें न होनेपर भी इसी प्रकार परमार्थ-रूप भासता है जैसे स्वप्न और मनोरथके पदार्थ न होते हुए भी चिन्तन करनेवालेकी बुद्धिमें सत्यवत् प्रतीत होते हैं। अतः विचारवान्‌को चाहिये कि वह पहले कर्मोंके संकल्प-विकल्प करनेवाले चित्त-को रोके तभी उसे अभयपदकी प्राप्ति होगी।

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
जन्मानि कर्माणि च यानि लोके।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥३९॥

तथा लोकमें जो चक्रपाणि भगवान् विष्णुके कल्याणकारी जन्म, और कर्म हैं उन्हें सुनता हुआ एवं उनकी विचित्र लीलाओं-के अनुसार रक्खे गये नामोंका निःसंकोच होकर गान करता हुआ असंगभावसे संसारमें विचरे।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥४०॥

इस प्रकारके व्रत (आचरण) वाला पुरुष अपने परम प्रिय प्रभुके नाम-संकीर्तनसे अनुराग उत्पन्न हो जानेपर द्रवितचित्त होकर संसारकी परवा न कर कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी गाने लगता है और कभी उन्मत्त-के समान नाच उठता है।

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥४१॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी हैं वे सब भगवान् हरिका शरीर ही हैं । अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे ।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्यु-
स्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥४२॥

भगवान्को आत्मसमर्पण करनेवाले पुरुषोंमें प्रभुका प्रेम, उनके स्वरूपका अनुभव और अन्य वस्तुओंमें वैराग्य तीनों एक कालमें ही उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार भोजन करनेवालेको भोजनके प्रत्येक ग्रासके साथ ही तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति तीनों एक साथ हो जाती हैं ।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥४३॥

इस प्रकार हे राजन् ! भगवान् अच्युतके चरणकमलोंका निरन्तर भजन करनेवाले भक्तको भगवत्प्रेम, विषयोंमें वैराग्य तथा

भगवत्स्वरूपका बोध ये सब अवश्य प्राप्त होते है और फिर वह साक्षात् परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

राजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम्।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रियः ॥४४॥

राजा निमि बोले-अब आप भगवद्भक्तका वर्णन कीजिये। उसके जो धर्म हैं, मनुष्योंमें उसका जैसा स्वभाव होता है, वह जैसा आचरण करता है, जो कुछ बोलता है और जिन लक्षणोंके कारण वह भगवान्को प्रिय होता है [वह सब बतलाइये]।

हरिरुवाच

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥४५॥

हरि बोले-जो समस्त प्राणियोंमें वर्तमान आत्माके भगवद्-भावको देखता है, [अर्थात् यह जानता है कि मैं परब्रह्मस्वरूप और सब पदार्थोंमें व्यापक हूँ] तथा जो अपने भगवत्स्वरूपमें ही समस्त प्राणियोंको (अध्यस्त) देखता है वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है।

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥४६॥

जो भगवान्से प्रेम, उनके भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा और भगवान्से द्वेष करनेवालोंकी उपेक्षा करता है वह मध्यम है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥४७॥

और जो भगवान्‌के अर्चा-विग्रह (प्रतिमा आदि) की पूजा-में ही श्रद्धासे प्रवृत्त होता है, उनके भक्तोंकी अथवा अन्य किसी-की पूजामें प्रवृत्त नहीं होता वह साधारण भक्त है ।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥४८॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करता हुआ भी, ऐसा जान-कर कि यह सब भगवान्‌की माया ही है, जो न दुःखी होता है न सुखी, निश्चय ही वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥४९॥

जो हरिस्मरणमें तल्लीन रहनेके कारण क्रमशः देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिके सांसारिक धर्म जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादिसे मोहित नहीं होता वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥५०॥

कामना और कर्मके बीजों (वासनाओं) का जिसके चित्तमें उद्भव नहीं होता और एकमात्र भगवान् वासुदेवका ही जिसे सहारा है वह निश्चय ही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।
सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥५१॥

जिसका जन्म अथवा कर्मसे तथा वर्ण,आश्रम अथवा जातिसे इस देहमें अहंभाव (मैंपन) नहीं होता वही भगवान्‌को प्रिय होता है ।

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः ॥५२॥

जिसका धनमें अथवा शरीरमें अपना-पराया—ऐसा भेद-भाव न हो, जो समस्त प्राणियोंमें समदृष्टि हो और शान्तचित्त हो, निश्चय ही वह भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥५३॥

जिसका चित्त श्रीविष्णु भगवान्‌में ही लीन है ऐसे देवगण आदि-से ढूँढे जानेयोग्य श्रीभगवच्चरणारविन्दोंसे जो सम्पूर्ण त्रिलोकीके वैभवके लिये भी आधे क्षण और आधे पलतकके लिये विचलित नहीं होता वह निरन्तर भगवत्स्मरणपरायण पुरुष ही भगवद्भक्तोंमें मुख्य है ।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुनः स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कतापः ॥५४॥

भगवान् विष्णुके उस विक्रम (बड़ी-बड़ी डगोंवाले) चरणोंकी

अँगुलियोंके नख-मणियोंकी शीतल कान्तिसे जिसका ताप शान्त हो गया है उस हृदयमें वह (ताप) फिर कैसे रह सकता है ? [रात्रिमें] चन्द्रमाके उदय होनेपर भी क्या सूर्यका ताप ठहर सकता है ?

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण किये जानेपर भी सम्पूर्ण पापसमूहको ध्वंस कर देते हैं, साक्षात् वे ही हरि प्रेमपाशसे अपने चरण-कमलोंके बँध जानेके कारण जिसके हृदयको कभी नहीं छोड़ते वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

तीसरा अध्याय

माया, मायासे पार होनेका उपाय तथा ब्रह्म और कर्मका निरूपण

राजोवाच

परस्य विष्णोरीशस्य मायिनामपि मोहिनीम् ।
मायां वेदितुमिच्छामि भगवन्तो ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

राजा निमिने कहा—भगवन् ! अब मैं बड़े-बड़े मायावियों-को भी मोहित कर देनेवाली परमेश्वर भगवान् विष्णुकी मायाको जानना चाहता हूँ; आपलोग उसका वर्णन कीजिये ।

नानुतृप्ये जुषन्युष्मद्वचो हरिकथामृतम् ।
संसारतापनिस्तप्तो मर्त्यस्तत्तापभेषजम् ॥ २ ॥

भगवन् ! मैं संसारतापसे सन्तप्त एक मरणधर्मा मनुष्य हूँ, इसलिये आपके मुखारविन्दसे निकले हुए हरिकथामृतरूपी वाक्योंसे, जो उस तापको मिटानेकी एकमात्र ओषधि हैं, सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती ।

अन्तरिक्ष उवाच

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज ।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

अन्तरिक्ष बोले—हे महाबाहो ! सर्वभूतात्मा आदिनारायणने अपने ही स्वरूपभूत जीवोंके भोग और मोक्षके लिये अपने रचे हुए पञ्चभूतोंसे ही नाना प्रकारकी उत्कृष्ट और निकृष्ट सृष्टि की है ।

एवं सृष्टानि भूतानि प्रविष्टः पञ्चधातुभिः ।
एकधा दशधात्मानं विभजञ्जुषते गुणान् ॥ ४ ॥

इस प्रकार पञ्चमहाभूतोंसे रचे हुए प्राणियोंमें स्वयं ही जीवरूपसे प्रविष्ट होकर वह अपनेको ही [मनरूपसे] एक और [बाह्य-इन्द्रियरूपसे] दश भागोंमें विभक्त करके विषयोंका उपभोग करता है ।

गुणैर्गुणान्स भुञ्जान आत्मप्रद्योतितैः प्रभुः ।
मन्यमान इदं सृष्टमात्मानमिह सज्जते ॥ ५ ॥

जीव आत्माद्वारा प्रकाशित इन्द्रियोंसे उनके विषयोंको भोगता

हुआ, तथा इस उत्पन्न किये हुए शरीरादिको ही आत्मा मानता हुआ उसमें आसक्त हो जाता है।

कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥ ६ ॥

और फिर यह देही अपनी कर्मेन्द्रियोंसे वासनायुक्त कर्म करता और उनके सुख-दुःखमय फल भोगता संसारमें भटकता रहता है।

इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥ ७ ॥

इस प्रकार विवश होकर नाना प्रकारके दुःख देनेवाली कर्मफलरूप गतियोंको प्राप्त होता हुआ यह जीव महाप्रलयपर्यन्त जन्म-मरणको प्राप्त होता रहता है।

धातूपप्लव आसन्ने व्यक्तं द्रव्यगुणात्मकम्।
अनादिनिधनः कालो ह्यव्यक्तायापकर्षति ॥ ८ ॥

फिर पञ्चभूतोंके प्रलयका समय उपस्थित होनेपर अनादि और अनन्त काल इस द्रव्यगुणात्मक (स्थूल-सूक्ष्मरूप) व्यक्त सृष्टिको [उसके कारण] अव्यक्तकी ओर खींच ले जाता है।

शतवर्षा ह्यनावृष्टिर्भविष्यत्युल्बणा[1] भुवि।
तत्कालोपचितोष्णार्को लोकांस्त्रीन्प्रतपिष्यति ॥ ९ ॥

उस समय पृथिवीपर सौ वर्षकी घोर अनावृष्टि होगी और

१. पा०—'शतवर्षाण्यनावृष्टिः'।

उस कालमें जिनकी उष्णता बढ़ जायगी वे सूर्यनारायण तीनों लोकोंको तपाने लगेंगे।

पातालतलमारभ्य संकर्षणमुखानलः।
दहन्नूर्ध्वशिखो विष्वग्वर्धते वायुनेरितः॥१०॥

उस समय शेषनागके मुखसे निकला हुआ अग्नि वायुसे प्रेरित होकर पाताललोकसे आरम्भ कर सबको दग्ध करता हुआ ऊँची-ऊँची लपटोंसे चारों ओर फैल जाता है।

संवर्तको¹ मेघगणो वर्षति स्म शतं समाः।
धाराभिर्हस्तिहस्ताभिर्लीयते सलिले विराट्॥११॥

और संवर्तक नामका मेघ-समूह हाथीकी सूँडके समान मोटी-मोटी धाराओंसे सौ वर्षतक वर्षा करता रहता है, जिससे कि यह समस्त ब्रह्माण्ड जलमें डूब जाता है।

ततो विराजमुत्सृज्य वैराजः पुरुषो नृप।
अव्यक्तं विशते सूक्ष्मं निरिन्धन इवानलः॥१२॥

तब, हे राजन्! बिना ईंधनके अग्निके समान विराट् पुरुष (ब्रह्मा) अपने ब्रह्माण्डशरीरको छोड़कर सूक्ष्मस्वरूप 'अव्यक्त' में लीन हो जाता है।

वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते।
सलिलं तद्धृतरसं ज्योतिष्ट्वायोपकल्पते॥१३॥

वायुके द्वारा गन्ध खींच लिया जानेपर पृथिवी जलरूप हो जाती है और उस वायुसे ही रस खींच लिया जानेपर जल अग्निरूप हो जाता है।

---

१. पा०—'सांवर्तकः'।

हृतरूपं तु तमसा वायौ ज्योतिः प्रलीयते ।
हृतस्पर्शोऽवकाशेन वायुर्नभसि लीयते ॥१४॥

फिर अन्धकारके द्वारा रूपरहित हुआ अग्नि वायुमें और अवकाशके द्वारा स्पर्शहीन हुआ वायु आकाशमें लीन हो जाता है।

कालात्मना हृतगुणं नभ आत्मनि लीयते ।
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सह वैकारिकैर्नृप ।
प्रविशन्ति ह्यहङ्कारं स्वगुणैरहमात्मनि ॥१५॥

हे राजन्! तदनन्तर, कालके द्वारा अपने गुण शब्दसे रहित होकर आकाश तामस अहङ्कारमें, इन्द्रियाँ राजस अहङ्कारमें और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंके साथ, मन एवं बुद्धि सात्त्विक अहङ्कारमें लीन हो जाते हैं तथा अहङ्कार अपने गुणोंके सहित महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है [और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है]।

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः भूयः किं[1] श्रोतुमिच्छसि ॥१६॥

यह हमने जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेवाली भगवान्‌की त्रिगुणमयी मायाका वर्णन किया, अब और क्या सुनना चाहते हो?

राजोवाच

यथैतामैश्वरीं मायां दुस्तरामकृतात्मभिः ।
तरन्त्यञ्जः स्थूलधियो महर्ष इदमुच्यताम् ॥१७॥

१. पा०—'किं भूयः'।

राजा निमि बोले—हे महर्षे ! अब ऐसा उपदेश कीजिये, जिससे बिना जीते हुए चित्तवाले पुरुषोंके लिये दुस्तर इस ईश्वरीय मायाको स्थूल बुद्धिवाले मनुष्य भी सुगमतासे पार कर जायँ।

प्रबुद्ध उवाच

कर्माण्यारभमाणानां दुःखहत्यै सुखाय च।
पश्येत्पाकविपर्यासं मिथुनीचारिणां नृणाम् ॥१८॥

प्रबुद्ध बोले—हे राजन् ! दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें बँधकर कर्मानुष्ठान करनेवाले पुरुषोंको जो विपरीत फल मिलता है उसे देखना चाहिये।

नित्यार्तिदेन वित्तेन दुर्लभेनात्ममृत्युना।
गृहापत्याप्तपशुभिः का प्रीतिः साधितैश्चलैः ॥१९॥

निरन्तर दुःख देनेवाले इस धनसे, जो अति दुर्लभ और आत्माके लिये मृत्युरूप ही है, तथा अनित्य गृह, पुत्र, कुटुम्ब और पशु आदिको प्राप्त कर लेनेसे, लोगोंको क्या सुख मिल सकता है ?

एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
सतुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥२०॥

मनुष्यको यह समझ लेना चाहिये कि यह लोक और परलोक दोनों कर्मजन्य और नाशवान् हैं तथा इनमें मण्डलेश्वर राजाओंकी भाँति समानके प्रति स्पर्द्धा (लागडाँट), उत्कृष्टके प्रति द्वेष और स्वयं उत्कृष्ट होनेपर पतनका भय लगा ही रहता है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥२१॥

अतः अपने उत्तम श्रेयःसाधनके जिज्ञासुको चाहिये कि वह शाब्दब्रह्म (वेद) और परब्रह्ममें परिनिष्ठित शान्तचित्त गुरुकी शरण ले ।

तत्र भागवतान्धर्माञ्छिक्षेद्गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरिः ॥२२॥

फिर उन गुरुदेवको ही आत्मा और इष्टदेव मानता हुआ उन्हींसे भागवत-धर्मोंको सीखे, जिनका निष्कपट आचरण करनेसे स्वयं अपनेको दे डालनेवाले श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ।

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥२३॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥२४॥
सर्वत्रात्मेश्वरान्वीक्षां कैवल्यमनिकेतताम् ।
विविक्तचीरवसनं सन्तोषं येन केनचित् ॥२५॥
श्रद्धां भागवते शास्त्रेऽनिन्दामन्यत्र चापि हि ।
मनोवाक्कर्मदण्डं च सत्यं शमदमावपि ॥२६॥
श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ॥२७॥
इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम् ।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम् ॥२८॥

१. पा०—'प्राणान् परस्मै च' ।

मनकी सब ओरसे असंगता, साधुजनोंका संग, समस्त प्राणियोंके प्रति यथोचित दया, मैत्री और नम्रताका भाव, शौच, तप, तितिक्षा (द्वन्द्वोंको सहना), मौन (व्यर्थ वार्ता-वर्जन अथवा मननशीलता), स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें समानता, आत्मस्वरूप हरिको सर्वत्र देखना, एकान्तसेवन, अनिकेतता (गृह आदिमें ममत्व न रखना), पवित्र वस्त्र धारण करना, जो कुछ मिल जाय उसीमें सन्तोष मानना, भगवत्सम्बन्धी शास्त्रोंमें श्रद्धा रखना, अन्य शास्त्रोंकी निन्दा न करना, मन, वाणी और कर्मका संयम, सत्यभाषण, शमदमादि, विचित्रलीलाविहारी भगवान्‌के जन्म, कर्म और गुणोंका श्रवण, कीर्तन और ध्यान, उन्हींके लिये समस्त चेष्टाएँ करना, यज्ञ, दान, तप, जप, आचार अथवा जो कुछ भी अपनेको प्रिय हो तथा स्त्री, पुत्र, गृह और प्राण ये सब परमात्माको अर्पण कर देना [—पहले इन सब बातोंको गुरुदेवसे सीखे ।]

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साधुषु ॥२९॥
परस्परानुकथनं पावनं भगवद्यशः ।
मिथो रतिर्मिथस्तुष्टिर्निवृत्तिर्मिथ आत्मनः ॥३०॥

इसी प्रकार कृष्ण ही जिनके आत्मा और स्वामी हैं उन पुरुषों-से प्रेम करना, स्थावर-जंगम—दोनों प्रकारके जगत् तथा महात्मा और साधुओंकी सेवा करना, भगवान्‌के परमपावन गुणोंका परस्पर कथोपकथन करना, तथा जिससे आपसमें प्रेम, सन्तोष और शान्तिका विस्तार हो [उन सभी कर्मोंको सीखे] ।

स्मरन्तः स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघहरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ॥३१॥

फिर पापपुञ्जहारी भगवान् हरिका स्वयं स्मरण करते हुए और औरोंसे कराते हुए उनका शरीर, [वैधी] भक्तिसे [प्रेमा] भक्तिका उदय होनेपर, आनन्दसे पुलकित हो जाता है ।

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
गायन्ति[1] नृत्यन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥३२॥

ऐसा होनेपर वे अलौकिक पुरुष भगवान् अच्युतका ध्यान करके कभी रोते, कभी हँसते, कभी आनन्दित होते और कभी बड़बड़ाने लगते हैं; तथा कभी नाचते, कभी भगवद्गुण-गान करते, और कभी उन अजन्मा प्रभुकी लीलाओंका चिन्तन करते हैं; और फिर परम उपरतिको प्राप्त होकर मौन हो जाते हैं ।

इति भागवतान्धर्माञ्छिक्षन्भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥३३॥

इस प्रकार भागवत-धर्मोंका अभ्यास करते-करते उन धर्मोंसे उत्पन्न हुई प्रेमा-भक्तिके द्वारा नारायणपरायण होनेपर पुरुष अनायास इस दुस्तर मायाको पार कर लेता है ।

राजोवाच

नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।
निष्ठामर्हथ नो वक्तुं यूयं हि ब्रह्मवादिनः ॥३४॥

---

१. पा०— 'नृत्यन्ति गायन्ति ।'

राजा निमि बोले—हे मुनिगण ! आप ब्रह्मका निरूपण करनेवाले हैं, अतः आप हमें नारायणनामक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका उपदेश कीजिये।

पिप्पलायन उवाच

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद्बहिश्च ।
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन
संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥३५॥

पिप्पलायन बोले—हे राजन् ! जो इस संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कारण तथा स्वयं कारणरहित हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके अन्तर्गत और [साक्षीरूपसे] उनके बाहर भी हैं, तथा जिनके द्वारा संजीवित होकर देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय अपने-अपने व्यापारमें प्रवृत्त होते हैं, उन्हींको तुम परम तत्त्व नारायण जानो।

नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा
प्राणेन्द्रियाणि च यथानलमर्चिषः स्वाः ।
शब्दोऽपि बोधकनिषेधतयात्ममूल-
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेधसिद्धिः ॥३६॥

जिस प्रकार चिनगारियाँ अग्निको प्रकाशित नहीं कर सकतीं उसी प्रकार इस आत्मतत्त्वमें न तो मनकी गति है और न वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियोंकी ही; तथा शब्द भी केवल निषेध-वृत्तिके द्वारा (अनात्म-पदार्थोंका निषेध करते-करते) निषेधावधि-

रूपसे ही उसे अर्थापत्ति प्रमाणसे लक्षित करता है, क्योंकि निषेधावधिका [अर्थात् जो निषेध किये गये पदार्थोंका आधार हो उसका] अभाव होनेसे निषेधकी सिद्धि ही नहीं हो सकती।

सत्त्वं रजस्तम इति त्रिवृदेकमादौ
सूत्रं महानहमिति प्रवदन्ति जीवम्।
ज्ञानक्रियार्थफलरूपतयोरुशक्ति
ब्रह्मैव भाति सदसच्च तयोः परं यत् ॥३७॥

सृष्टिके आदिमें एक ब्रह्म ही था, वही सत्त्व, रज और तमरूपसे 'त्रिवृत्' (प्रधान) कहलाया। उसे [ज्ञानमय होनेसे] महत्तत्त्व, [क्रियात्मक होनेसे] सूत्र और [जीवकी उपाधि होनेसे] अहङ्कार कहते हैं; फिर वही महान् शक्तिवाला ब्रह्म ज्ञान (इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवता), क्रिया (इन्द्रिय) और अर्थ (इन्द्रिय-विषयों) के रूपमें भासता है; इस प्रकार सत् (दृश्य) असत् (अदृश्य) तथा इसके परे जो कुछ है वह ब्रह्म ही भास रहा है।

नात्मा जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ
न क्षीयते सवनविद्व्यभिचारिणां हि[1]।
सर्वत्र शश्वदनपाय्युपलब्धिमात्रं
प्राणो यथेन्द्रियबलेन विकल्पितं सत् ॥३८॥

वह परमात्मा न जन्म लेता है, न मरता है और न बढ़ता है, न घटता है, क्योंकि वह सर्वव्यापक, नित्य, अच्युत और ज्ञानस्वरूप है तथा समस्त परिवर्तनशील विकारोंकी अवस्थाओंका

१. पा०—'निधनविद्व्यभिचारिणाम्'।

साक्षी है। जिस प्रकार एक ही प्राण इन्द्रिय-भेद (स्थान-भेद) से नाना विकल्पोंको प्राप्त हो रहा है [उसी प्रकार एक ही ब्रह्म विविधरूप प्रतीत होता है] ।

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु
प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते
कूटस्थ आशयमृते[1] तदनुस्मृतिर्नः ॥३९॥

अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज और अनिश्चित (स्वेदज) योनियोंमें जहाँ-तहाँ जिस प्रकार प्राण जीवका अनुसरण करता है [उसी प्रकार आत्मा भी सब अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे स्थित हुआ असंग रहता है] । सुषुप्तिमें इन्द्रियगणके निश्चेष्ट और अहङ्कारके लीन हो जानेपर कूटस्थ आत्माके बिना तो उस अवस्थाकी स्मृति ही नहीं हो सकती।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या
चेतोमलानि विधमेद्गुणकर्मजानि ।
तस्मिन्विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं
साक्षाद्यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः[2] ॥४०॥

जब कमलनाभ भगवान् विष्णुके चरणकमलोंकी प्राप्तिकी इच्छासे बढ़ी हुई तीव्र भक्तिरूप अग्निके द्वारा जीव गुणकर्मसम्भूत अपने चित्तके मलोंको दग्ध कर देता है उस समय उसके शुद्ध

१. पा०—'आश्रयमृते' ।
२. पा०—'सवितुः प्रकाशः' ।

हो जानेपर आत्मतत्त्व उसी प्रकार स्पष्ट भासने लगता है जिस प्रकार निर्मल दृष्टिवालेको सूर्यका प्रकाश ।

राजोवाच

कर्मयोगं वदत नः पुरुषो येन संस्कृतः ।
विधूय स्वाशु[1] कर्माणि नैष्कर्म्यं विन्दते परम् ॥४१॥
एवं प्रश्नमृषीन्पूर्वमपृच्छं पितुरन्तिके ।
नाब्रुवन्ब्रह्मणः पुत्रास्तत्र कारणमुच्यताम् ॥४२॥

राजा निमि बोले—हे मुनिगण ! अब आप मुझे कर्मयोग-का उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा शुद्ध हुआ मनुष्य अपने कर्मों-को त्यागकर परम नैष्कर्म्य (आत्यन्तिक निवृत्ति) को प्राप्त कर लेता है। एक वार पहले भी मैंने यही प्रश्न पिता इक्ष्वाकुके सामने ब्रह्माके पुत्र सनकादि ऋषियोंसे पूछा था, किन्तु उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसका क्या कारण था ? सो भी आप मुझसे कहिये ।

आविर्होत्र उवाच

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः ।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥४३॥

आविर्होत्र बोले—कर्म, अकर्म और विकर्म ये सब विषय वेदसे ही जाने जा सकते हैं, लौकिक पदार्थोंसे इनका ज्ञान नहीं हो सकता; और वेद भगवद्रूप है, उसमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी चक्करमें पड़ जाते हैं, [इसी कारण सनकादिने उस समय तुमसे इस विषयमें कुछ नहीं कहा, क्योंकि तब तो तुम बालक ही थे ।]

१. पा०—'विधूयेहाशु' ।

परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥४४॥

वेद परोक्षवाद[1] है । [कड़वी दवा पिलानेके लिये] जैसे बालकको [मीठी-मीठी बातें बनाकर अथवा मीठी चीजें देकर] फुसलाते हैं उसी प्रकार कर्मरूपी रोगको छुड़ानेके लिये ही उसमें कर्मरूपी औषधका विधान किया गया है ।

नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥४५॥

जो अजितेन्द्रिय और अज्ञानी पुरुष वेदोक्त कर्मका आचरण नहीं करता वह विहित-कर्म-त्यागके पापसे बारंबार जन्म-मरणको प्राप्त होता है ।

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥४६॥

वेदोक्त कर्मोंको ही निःसंगभावसे ईश्वरार्पणपूर्वक करता हुआ पुरुष नैष्कर्म्य-सिद्धि (ज्ञानावस्था) को प्राप्त कर लेता है; वेदमें जो [स्वर्गादि मिलनेकी] फलश्रुति है वह केवल कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये ही है ।

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥४७॥

जो शीघ्र ही परस्वरूप आत्माकी [अहङ्काररूप] हृदयग्रन्थि-

१. जहाँ किसी बातको छिपानेके लिये उसका अन्य प्रकारसे वर्णन किया जाता है उसे 'परोक्षवाद' कहते हैं ।

को खोलना चाहता हो उसे उचित है कि वह वेदविधि तथा तन्त्रोक्त विधिसे नियमानुसार भगवान् केशवकी पूजा करे ।

लब्धानुग्रह आचार्यात्तेन संदर्शितागमः ।
महापुरुषमभ्यर्चेन्मूर्त्याभिमतयात्मनः ॥४८॥

[सेवाके द्वारा] गुरुदेवकी कृपाका पात्र होकर उनकी बतलायी हुई विधिके अनुसार अपनी अभिमत मूर्तिके द्वारा महापुरुष नारायणकी पूजा करे ।

शुचिः संमुखमासीनः प्राणसंयमनादिभिः ।
पिण्डं विशोध्य संन्यासकृतरक्षोऽर्चयेद्धरिम् ॥४९॥

प्रथम शरीर और अन्तःकरणको शुद्ध करके प्रतिमाके सम्मुख बैठकर प्राणायामादिके द्वारा नाडीशुद्धि करे और फिर अंगन्याससे अच्छी तरह देहरक्षा कर भगवान्का पूजन करे ।

अर्चादौ हृदये चापि यथालब्धोपचारकैः ।
द्रव्यक्षित्यात्मलिङ्गानि निष्पाद्य प्रोक्ष्य चासनम् ॥५०॥
पाद्यादीनुपकल्प्याथ सन्निधाप्य समाहितः ।
हृदादिभिः कृतन्यासो मूलमन्त्रेण चार्चयेत् ॥५१॥

बाह्य-प्रतिमामें अथवा हृदयमें, जहाँ भी पूजन करना हो, उसके लिये जो कुछ पूजन-सामग्री मिले, उसको, पूजास्थानको तथा शरीरादिको पहले शुद्ध करे, फिर आसनपर जल छिड़ककर अर्घ्यपाद्य आदिके पात्रोंको यथास्थान रक्खे, तदनन्तर एकाग्रचित्त होकर अंगन्यास-करन्यास करनेके उपरान्त मूलमन्त्रके द्वारा प्रतिमाका पूजन करे ।

साङ्गोपाङ्गां सपार्षदां तां तां मूर्तिं स्वमन्त्रतः ।
पाद्यार्घ्याचमनीयाद्यैः स्नान[1]वासोविभूषणैः ॥५२॥
गन्धमाल्याक्षतस्रग्भिर्धूपदीपोपहारकैः ।
साङ्गं संपूज्य विधिवत्स्तवैः स्तुत्वा नमेद्धरिम् ॥५३॥

अपने-अपने उपास्यदेवकी अंग (हृदयादि), उपांग (आयुधादि) और पार्षदसहित मूर्तिकी उसके मूलमन्त्रद्वारा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना वस्त्र, आभूषण, गन्ध, माला, अक्षत[2], पुष्पहार, धूप, दीप और नैवेद्य आदिसे विधिवत् पूजा करे और फिर स्तोत्रोंद्वारा स्तुति करके भगवान् हरिको नमस्कार करे ।

आत्मानं तन्मयं ध्यायन्मूर्तिं संपूजयेद्धरेः ।
शेषामाधाय शिरसा स्वधाम्न्युद्वास्य सत्कृतम् ॥५४॥

इस प्रकार अपने आत्माको भगवद्रूप विचारता हुआ भगवान्‌की प्रतिमाका पूजन करे, फिर निर्माल्यको शिरपर रक्खे और प्रतिमाको सत्कारपूर्वक यथास्थान रख दे ।

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः ।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥५५॥

१. पा०—'आचमनीयाद्यैर्नानावासोविभूषणैः' ।

२. अक्षतका उपयोग तिलकके लिये करना चाहिये, क्योंकि शास्त्रमें विष्णु भगवान्‌की पूजामें अक्षतका निषेध किया है । 'नाक्षतैरर्चयेद्विष्णुं न केतक्या महेश्वरम्' (अक्षतोंसे विष्णुभगवान्‌की और केतकीसे शिवजी‌की पूजा न करे) ।

३. पा०—'यजेत्' ।

इस प्रकार अग्नि, सूर्य, जल, अतिथिमें अथवा अपने हृदयमें जो भगवान् श्रीहरिका पूजन करता है वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

चौथा अध्याय

भगवान्‌के अवतारोंका वर्णन

राजोवाच

यानि यानीह कर्माणि यैर्यैः स्वच्छन्दजन्मभिः ।
चक्रे करोति कर्ता वा हरिस्तानि ब्रुवन्तु नः ॥ १ ॥

राजा निमि बोले—[हे मुनीश्वरगण !] इस लोकमें श्रीहरिने स्वेच्छासे धारण किये हुए अपने जिन-जिन अवतारोंमें जो-जो लीलाएँ की हैं, कर रहे हैं अथवा करेंगे वे सब हमसे कहिये।

द्रुमिल[1] उवाच

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्ता-
ननुक्रमिष्यन्स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत्कथञ्चि-
त्कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः[2] ॥ २ ॥

द्रुमिल बोले—हे राजन् ! अनन्त भगवान्‌के अनन्त गुणोंका

१. पा०—'द्रुविड' । २. पा०—'अखिलसत्त्वधाम्नः' ।

जो पुरुष पार पाना चाहता है वह मन्दबुद्धि है। सम्भव है, पृथिवीके रजःकणोंको किसी प्रकार किसी समय कोई गिन भी ले, परन्तु सर्वशक्तिमान् भगवान्के गुणोंका कभी कोई पार नहीं पा सकता।

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः
पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन्।
स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधान-
मवाप नारायण आदिदेवः ॥ ३ ॥

अपने रचे हुए पञ्चभूतोंके द्वारा ब्रह्माण्डरूप पुरकी रचना करके जब भगवान् आदिनारायणने जीवरूपसे उसमें प्रवेश किया तो उनका 'पुरुष' नाम हुआ।

यत्काय एष भुवनत्रयसन्निवेशः[1]
यस्येन्द्रियैस्तनुभृतामुभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसनतो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्ता ॥ ४ ॥

जिनका शरीर यह त्रिलोकसमुदाय है, जिनकी इन्द्रियोंसे देहधारियोंकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ स्वरूपसे स्वतःसिद्ध ज्ञान (आत्मा), श्वास-प्रश्वाससे बल (देहशक्ति), ओज (इन्द्रियशक्ति) और क्रियाशक्ति तथा सत्त्वादि गुणोंसे स्थिति, उद्भव और लय होते हैं वही आदिकर्ता नारायण हैं।

आदावभूच्छतधृतौ रजसास्य सर्गे
विष्णुः स्थितौ क्रतुपतिर्द्विजधर्मसेतुः।

१. पा०—'भुवनत्रयसन्निविष्टः'।

रुद्रोऽप्ययाय तमसा पुरुषः स आद्य
इत्युद्भवस्थितिलयाः सततं प्रजासु ॥ ५ ॥

प्रथम जगत्‌की उत्पत्तिके लिये उनके रजोगुणके अंशसे ब्रह्मा हुए, फिर वे आदिपुरुष ही संसारकी स्थितिके लिये [अपने सत्त्वांशसे] धर्म और ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले यज्ञपति विष्णु तथा तमोगुणके अंशसे सर्ग-संहारक रुद्र हुए। इस प्रकार निरन्तर उन्हींसे प्रजामें उत्पत्ति, पालन और संहार होते रहते हैं।

धर्मस्य दक्षदुहितर्यजनिष्ट मूर्त्यां
नारायणो नरऋषिप्रवरः प्रशान्तः ।
नैष्कर्म्यलक्षणमुवाच चचार कर्म
योऽद्यापि चास्त ऋषिवर्यनिषेविताङ्घ्रिः ॥ ६ ॥

दक्षप्रजापतिकी पुत्री मूर्तिसे, भगवान्‌ने धर्मके अंशसे, शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया, उन्होंने कर्मत्यागरूप सांख्यनिष्ठाका उपदेश किया और स्वयं भी उसीका आचरण किया। वे, जिनके चरणोंकी मुनिवर सेवा करते हैं, आजकल भी [बदरिकाश्रममें] विराजमान हैं।

इन्द्रो विशंक्य मम धाम जिघृक्षतीति
कामं न्ययुङ्क्त सगणं स बदर्युपाख्यम् ।
गत्वाप्सरोगणवसन्तसुमन्दवातैः
स्त्रीप्रेक्षणेषुभिरविध्यदतन्महिज्ञः ॥ ७ ॥

'ये अपने घोर तपद्वारा मेरा पद छीनना चाहते हैं'—

१. पा०—'मूर्त्यां'।

ऐसी आशंका करके इन्द्रने [उन्हें तपोभ्रष्ट करनेके लिये] कामदेवको उसके दल-बलके सहित नियुक्त किया; और उनकी महिमा न जाननेके कारण वह बदरिकाश्रममें जाकर अप्सरागण, वसन्त, मन्द-सुगन्ध वायु और स्त्रियोंके कटाक्ष-बाणोंसे उन्हें वेधनेकी चेष्टा करने लगा।

विज्ञाय शक्रकृतमक्रममादिदेवः
प्राह प्रहस्य गतिविस्मय एजमानान्।
मा भैष्ट[1] भो मदनमारुतदेववध्वो
गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम् ॥ ८ ॥

इन्द्रकी कुचालको जानकर कुछ विस्मय न करते हुए आदिदेव नारायणने भयसे काँपते हुए उन कामादिसे हँसकर कहा—'हे मदन! हे मन्दमलयमारुत! हे देवाङ्गनाओ! डरो मत; हमारा आतिथ्य स्वीकार करो; उसे ग्रहण किये बिना हमारा आश्रम सूना करके मत चले जाना।'

इत्थं ब्रुवत्यभयदे नरदेव देवाः
सव्रीडनम्रशिरसः सघृणं तमूचुः।
नैतद्विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रं
स्वारामधीरनिकरानतपादपद्मे ॥ ९ ॥

हे राजन्! अभयदायक दयालु भगवान्‌के ऐसा कहनेपर लज्जासे शिर झुकाये हुए देवगण करुणस्वरसे इस प्रकार बोले—'हे विभो! आप मायातीत और निर्विकार हैं तथा आत्माराम

१. पा०—'मा भैर्विभो'।

धीर पुरुष निरन्तर आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं; अतः आपके लिये यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है [कि स्वयं अविचल रहकर हम अपराधियोंके प्रति भी इतनी उदारताका परिचय दे रहे हैं] ।

त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः
स्वौको विलंघ्य परमं व्रजतां पदं ते ।
नान्यस्य बर्हिषि बलीन्ददतः स्वभागा-
न्धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नि ॥१०॥

जो आपके ही सेवक हैं, उनके मार्गमें देवगण अनेक विघ्न उपस्थित करते हैं, क्योंकि वे उनके धाम (स्वर्गलोक) को लाँघकर आपके परमपदको प्राप्त होते हैं। और उनके अतिरिक्त जो केवल कर्मकाण्डमें लगे रहकर यज्ञादिके द्वारा देवताओंको उनका भाग देते रहते हैं उन्हें कोई विघ्न नहीं होता, तथापि वे भक्तजन आपसे सुरक्षित होनेके कारण समस्त विघ्नोंके शिरपर पैर रख देते हैं [और अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट नहीं होते] ।

क्षुत्तृट्त्रिकालगुणमारुतजैह्वचशैश्न्या-
नस्मानपारजलधीनतितीर्य केचित् ।
क्रोधस्य यान्ति विफलस्य वशं पदे गो-
र्मज्जन्ति दुश्चरतपश्च वृथोत्सृजन्ति ॥११॥

तथा कुछ लोग [जो तपस्वी होनेपर भी आपके उपासक होते हैं] अपार समुद्रके समान भूख, प्यास, [शीत, ग्रीष्म और वर्षा] तीनों कालोंके गुण, वायु तथा रसना और शिश्नेन्द्रियके

वेगोंको पार करके भी व्यर्थ ही क्रोधरूपी गोखुरीके समान गढ़ेमें बीचहीमें डूब जाते हैं और अपनी कठिन तपस्यासे वृथा हाथ धो बैठते हैं।

इति प्रगृणतां तेषां स्त्रियोऽत्यद्भुतदर्शनाः।
दर्शयामास शुश्रूषां स्वर्चिताः कुर्वतीर्विभुः ॥१२॥

देवताओंके इस प्रकार स्तुति करनेपर [उनका गर्व चूर्ण करनेके लिये] भगवान्‌ने उन्हें विचित्रवस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित अद्भुत रूप-लावण्यमयी अनेकों स्त्रियाँ अपने आश्रममें सेवा करती हुई दिखलायीं।

ते देवानुचरा दृष्ट्वा स्त्रियः श्रीरिव रूपिणीः।
गन्धेन मुमुहुस्तासां रूपौदार्यहतश्रियः ॥१३॥

साक्षात् लक्ष्मीजीके समान रूपवती उन स्त्रियोंको देखकर उनके रूप-लावण्यकी महिमासे कान्तिहीन हुए देवगण उनके अंगकी दिव्य गन्धसे मोहित हो गये।

तानाह देवदेवेशः प्रणतान्प्रहसन्निव।
आसामेकतमां वृङ्ध्वं सवर्णां स्वर्गभूषणाम् ॥१४॥

तब अति दीन हुए उन देवानुचरोंसे भगवान् हँसकर बोले, 'इनमेंसे किसी एकको जो तुम्हारे अनुरूप हो, स्वीकार कर लो, वह स्वर्गलोककी भूषणरूप होगी।'

ओमित्यादेशमादाय नत्वा तं सुरवन्दिनः।
उर्वशीमप्सरःश्रेष्ठां पुरस्कृत्य दिवं ययुः ॥१५॥

तब वे देवदूत 'बहुत अच्छा' ऐसा कह भगवान्‌की आज्ञा-

नुसार उनमेंसे अप्सराओंमें श्रेष्ठ उर्वशीको आगेकर प्रभुको प्रणाम करनेके उपरान्त स्वर्गलोकको चले गये ।

इन्द्रायानम्य सदसि शृण्वतां त्रिदिवौकसाम् ।
ऊचुर्नारायणबलं शक्रस्तत्रास विस्मितः ॥१६॥

स्वर्गमें पहुँचकर उन्होंने देवराज इन्द्रको प्रणाम कर सभामें सब देवताओंके सामने भगवान् नारायणका बल और प्रभाव कह सुनाया । उसे सुनकर इन्द्र अति विस्मित और भयभीत हुआ ।

हंसस्वरूप्यवददच्युत आत्मयोगं
दत्तः कुमार ऋषभो भगवान्पिता नः ।
विष्णुः शिवाय जगतां कलयावतीर्ण-
स्तेनाहृता मधुभिदा श्रुतयो हयास्ये ॥१७॥

इसी प्रकार हंसावतार लेकर भगवान् अच्युतने आत्मज्ञानका उपदेश किया । तथा दत्तात्रेय, सनक सनन्दन सनातन सनत्कुमार और हमारे पिता श्रीऋषभदेवजी—ये सब भी जगत्के कल्याणार्थ लिये हुए भगवान् विष्णुके कलावतार ही हैं। इनके अतिरिक्त हयग्रीव अवतारमें भगवान् मधुसूदनने वेदोंका उद्धार किया ।

गुप्तोऽप्यये मनुरिलौषधयश्च मात्स्ये
क्रौडे हतो दितिज उद्धरताम्भसः क्ष्माम् ।
कौर्मे धृतोऽद्रिरमृतोन्मथने स्वपृष्ठे
ग्राहात्प्रपन्नमिभराजममुञ्चदार्तम् ॥१८॥

प्रलयकालमें मत्स्यावतार लेकर मनु, पृथिवी और ओषधियों-की रक्षा की । वराह-अवतारमें जलमें डूबी हुई पृथिवीका उद्धार

करते समय दितिनन्दन हिरण्याक्षका वध किया, कूर्मावतारमें समुद्रमन्थनके समय मन्दराचलको अपनी पीठपर धारण किया तथा [हरि-अवतारमें] अपनी शरणमें आये हुए ग्राहग्रस्त आर्त गजराजका उद्धार किया ।

संस्तुन्वतोऽब्धिपतिताञ्छ्रमणानृषींश्च
शक्रं च वृत्रवधतस्तमसि प्रविष्टम् ।
देवस्त्रियोऽसुरगृहे पिहिता अनाथा
जघ्नेऽसुरेन्द्रमभयाय सतां नृसिंहे ॥१९॥

[उन्हीं भगवान्‌ने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें] गोष्पदमात्र जलमें डूबते हुए अति दीनतासे स्तुति करते हुए वालखिल्यादि ऋषियों-का उद्धार किया, वृत्र-वधके कारण ब्रह्महत्याके भयसे छिपे हुए इन्द्रकी रक्षा की तथा दानवोंके द्वारा बन्दी बनाकर रक्खी हुई देवताओंकी स्त्रियोंको छुड़ाया और नृसिंह-अवतारमें सज्जनोंको अभय करनेके लिये दैत्यराज हिरण्यकशिपुका वध किया ।

देवासुरे युधि च दैत्यपतीन्सुरार्थे
हत्वान्तरेषु भुवनान्यदधात्कलाभिः ।
भूत्वाथ वामन इमामहरद्बलेः क्ष्मां
याच्ञाछलेन समदाददितेः सुतेभ्यः॥२०॥

देवासुरसंग्राममें भगवान्‌ने देवताओंके लिये दैत्योंका वध करके विभिन्न मन्वन्तरोंमें अपनी शक्तिसे त्रिभुवनकी रक्षा की; फिर वामन-अवतार लेकर भिक्षाके छलसे इस पृथिवीको दैत्यराज बलिसे लेकर देवताओंको दे दिया ।

निःक्षत्रियामकृत गां च त्रिःसप्तकृत्वो
रामस्तु हैहयकुलाप्ययभार्गवाग्निः ।
सोऽब्धिं बबन्ध दशवक्त्रमहन्सलङ्कं
सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः ॥२१॥

भृगुकुलमें हैहयवंशको नष्ट करनेके लिये अग्निरूप परशुराम अवतार लेकर उन्होंने इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रियहीन कर दिया; फिर उन्होंने [रामावतारमें] समुद्रका सेतु बाँधा और लङ्काके सहित दशशीश रावणका नाश किया । संसारके मलको नष्ट करनेवाली निर्मल कीर्तिवाले उन श्रीसीतानाथकी जय हो ।

भूमेर्भरावतरणाय यदुष्वजन्मा
जातः करिष्यति सुरैरपि दुष्कराणि ।
वादैर्विमोहयति यज्ञकृतोऽतदर्हा-
ञ्छूद्रान्कलौ क्षितिभुजो न्यहनिष्यदन्ते ॥२२॥

भूमिका भार उतारनेके लिये अब वे ही अजन्मा हरि यदुकुलमें श्रीकृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए हैं, ये ऐसे अद्भुत कर्म करेंगे जो देवताओंके लिये भी दुष्कर हैं । आगे बुद्धावतार लेकर यज्ञके अनधिकारियोंको अहिंसावादसे मोहित करेंगे और कलियुगके अन्तमें कल्कि अवतार लेकर शूद्रजातिके राजाओंका वध करेंगे ।

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥२३॥

हे महाबाहो ! अतुलकीर्ति विश्वनाथ भगवान् हरिके ऐसे ही अनेकों जन्म और कर्मोंका महात्माओंने वर्णन किया है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ॐ

पाँचवाँ अध्याय

भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और पूजाविधिका वर्णन

राजोवाच

भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

राजा निमिने पूछा—हे आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुनिगण ! जिनकी कामनाएँ शान्त नहीं हुईं और इन्द्रियाँ भी जिनके वशमें नहीं हैं तथा जो प्रायः भगवान् हरिका भजन भी नहीं करते, उनकी क्या गति होती है ?

चमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २ ॥

चमस बोले—भगवान् आदिपुरुषके मुख, बाहु, जंघा और चरणोंसे सत्त्वादि गुणोंके अनुसार आश्रमोंके सहित पृथक्-पृथक् ब्राह्मणादि चार वर्ण उत्पन्न हुए ।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

इन वर्णाश्रमोंमें उत्पन्न हुए जो लोग अपने उत्पत्तिस्थान आदिनारायणको नहीं भजते अथवा उनका अनादर करते हैं वे अपने स्थानसे भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं ।

---

१. पा०—'स्थानभ्रष्टाः' ।

दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४ ॥

हाँ, जो कोई हरिकथा अथवा हरिकीर्तनसे अनभिज्ञ हैं वे पुरुष-स्त्री और शूद्रगण तो आप-जैसे भगवद्भक्तोंकी दयाके ही पात्र हैं। [अर्थात् उन्हें उनके अज्ञानसे निकालकर आपलोगोंको भगवद्भजनमें प्रवृत्त करना ही चाहिये।]

विप्रो राजन्यवैश्यौ च हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

बहुत-से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदाध्ययन तथा यज्ञोपवीतादि संस्कारोंके कारण हरि-चरणोंकी सन्निधिका अधिकार पाकर भी वैदिक अर्थवादसे मोहित हो जाते हैं।

कर्मण्यकोविदाः स्तब्धा मूर्खाः पण्डितमानिनः ।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुकाः ॥ ६ ॥

कर्मका रहस्य न जाननेवाले तथा उद्धत और मूर्ख होकर भी अपनेको पण्डित माननेवाले वे लोग फल-श्रुतिकी आपात-माधुरीमें मोहित होकर बड़ी प्रसन्नतासे अपने लिये बड़ी मीठी-मीठी बातें कहा करते हैं।

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७ ॥

वे कर्माभिमानी लोग रजोगुणकी अधिकतासे अति घोर संकल्पवाले, बड़े कामी, सर्पके समान क्रोधी, पाखण्डी, अभिमानी

और पापी होते हैं तथा भगवान् अच्युतके प्रिय भक्तोंकी हँसी किया करते हैं।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यसुखेषु चाशिषः।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८ ॥

वे स्त्रीलम्पट पुरुष, जिसमें एकमात्र मैथुन ही सुख है ऐसे गृहस्थाश्रममें ही पड़े रहकर परस्पर उसीकी वृद्धिकी कामना किया करते हैं; वे लोग कर्मके रहस्यसे अनभिज्ञ होते हैं तथा अन्नदान, विधि और दक्षिणासे रहित यागादि करते हुए उदरपूर्तिके लिये व्यर्थ पशुओंको मारते रहते हैं।

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥

धन, वैभव, कुटुम्ब, विद्या, दान, रूप, बल और कर्म आदिके गर्वसे अन्धे होकर वे दुष्ट भगवान्के सहित भगवद्भक्त महात्माओंका तिरस्कार करते हैं।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम्।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥१०॥

१. पा०—'मैथुन्यपरेषु'। २. पा०—'स्वम्'।

क्योंकि, जो आकाशके समान समस्त देहधारियोंमें सर्वदा स्थित और उनके प्रिय आत्मा हैं उन श्रुतिकीर्तित भगवान्‌के विषयमें ये अज्ञजन कुछ नहीं सुनते; और बातचीतमें भी तरह-तरहकी कामनाओंकी ही चर्चा करते रहते हैं ।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥११॥

लोकमें स्त्रीप्रसंग तथा मांस-मद्य-सेवनमें जीवकी स्वभावसे ही सदा प्रवृत्ति है । उनके लिये प्रेरणा करनेमें श्रुतिका अभिप्राय नहीं है, उसे तो इनकी निवृत्ति ही इष्ट है । अतः उन्हें क्रमशः विवाह, यज्ञ और [सौत्रामणि यज्ञमें] सुराग्रहके द्वारा ग्रहण करनेकी ही व्यवस्था है । [अर्थात् जिनकी स्त्रीप्रसंगमें स्वाभाविक प्रवृत्ति हो उन्हें विवाहके द्वारा ही उसमें प्रवृत्त होना चाहिये, मांसाहारियोंको यज्ञमें ही मांसग्रहण करना चाहिये तथा मद्यपोंको सौत्रामणि यज्ञमें ही उसका सेवन करना चाहिये । इस प्रकार नियम करके इन प्रवृत्तियोंको नियन्त्रित कर दिया है ।]

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥१२॥

धनका भी एकमात्र फल धर्म ही है, जिससे कि विज्ञान

(अपरोक्ष साक्षात्कार) के सहित ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उसके पश्चात् शान्ति मिलती है। परन्तु [शोक है कि] लोग उसका उपयोग घर-गृहस्थोंके लिये ही करते हैं और [अपने शिरपर खड़ी हुई] इस शरीरकी दुस्तर मृत्युको नहीं देखते।

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या[1]
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥१३॥

सौत्रामणि यज्ञमें मद्यका केवल सूँघ लेना ही विहित है, पीना नहीं; यज्ञादिमें देवताओंको बलि देनेके लिये ही पशुवधका विधान है, [मांसभक्षणके लोभसे] हिंसा करनेका नहीं तथा केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही स्त्री-प्रसंगमें प्रवृत्त होना चाहिये, विषय-सुखके कारण नहीं—इस विशुद्ध धर्मको वे मूर्ख नहीं जानते।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून्द्रुह्यन्ति विस्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥१४॥

इस यथार्थ तात्पर्यको न जाननेवाले जो दुष्ट अति गर्व और पाण्डित्याभिमानवाले हैं; तथा पशुओंसे द्रोह करते हैं, उनके वध किये हुए वे पशु मरकर उन्हींको खाते हैं।

द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम्।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥१५॥

इस अवश्य नष्ट होनेवाले शरीर [और एक दिन अवश्य

१. पा०—'रत्यै'।

छूट जानेवाले धन] में स्नेह करके जो अन्य शरीरोंमें अवस्थित अपने ही आत्मा भगवान् श्रीहरिसे द्वेष करते हैं, वे अवश्य अधोगतिको प्राप्त होते हैं।

ये कैवल्यमसंप्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम्।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥१६॥

जिन्होंने [पूर्ण बोधके द्वारा] कैवल्यपदको तो प्राप्त नहीं किया किन्तु जो मूढ़तासे पार हो चुके हैं, ऐसे अर्थ-धर्म-कामरूप त्रिवर्गमें फँसे हुए पुरुष एक क्षणको भी शान्ति नहीं पाते और अपने आप ही अपना सर्वस्व नष्ट कर देते हैं।

एत[1] आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥१७॥

अज्ञान (कर्म) को ही ज्ञान समझनेवाले ये अशान्तात्मा आत्मघाती लोग कालके द्वारा अपने सम्पूर्ण मनोरथोंके नष्ट हो जानेसे अकृतकार्य होकर अत्यन्त दुःख भोगते हैं।

हित्वात्यायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥१८॥

ये भगवद्विरोधी लोग अत्यन्त कष्टसे प्राप्त हुए अपने गृह, पुत्र, मित्र और धन आदिको यहीं छोड़कर विवश हुए घोर अन्धकार (नरक) में पड़ते हैं।

राजोवाच

कस्मिन्काले स भगवान् किंवर्णः कीदृशो नृभिः।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥१९॥

१. पा०—'एते'।

राजा निमि बोले—भगवान्‌का किस समय (किस युगमें) कैसा वर्ण तथा कैसा स्वरूप होता है और किन-किन नामों और विधियोंसे उनकी पूजा होती है? यह सब आप वर्णन कीजिये।

करभाजन उवाच

कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥२०॥

करभाजन बोले—हे राजन्! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि इन चारों युगोंमें भगवान् भिन्न-भिन्न वर्ण, नाम और रूपवाले होते हैं, तथा उनकी पूजा भी भिन्न-भिन्न विधियोंसे ही होती है।

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू[1] ॥२१॥

सत्ययुगमें भगवान् शुक्लवर्ण, चतुर्भुज, जटाजूटधारी, तथा वल्कल, कृष्णमृगचर्म, यज्ञोपवीत, रुद्राक्ष और दण्डकमण्डलु धारण करनेवाले होते हैं।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥२२॥

उस समयके शान्त निर्वैर सहृदय और समदर्शी लोग उन भगवान् नारायणकी शम, दम और तपस्याके द्वारा उपासना करते हैं।

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरो मनुः।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥२३॥

१. पा०—'दण्डकमण्डलुम्'।

उस समय उनका हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त और परमात्मा आदि नामोंसे संकीर्तन किया जाता है।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥२४॥

त्रेतायुगमें भगवान् रक्तवर्ण, चतुर्भुज, त्रिमेखलाधारी, सुनहले केशोंवाले, वेदत्रयीरूप और स्रुक्-स्रुवा आदि यज्ञपात्रोंसे सुशोभित होते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम्।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥२५॥

उस समयके धर्मिष्ठ और ब्रह्मवादी पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् हरिका वेदत्रयीरूप कर्मकाण्डकी विधिसे पूजन करते हैं।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥२६॥

तथा वे विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं।

द्वापरे भगवाञ्छ्यामः पीतवासा निजायुधः।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥२७॥

द्वापरमें भगवान् श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, अपने चक्रादि आयुधोंसे युक्त तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिह्नोंसे और कौस्तुभादि बाह्य चिह्नोंसे सुशोभित होते हैं।

तं तदा[1] पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥२८॥

हे राजन् ! इस प्रकारके उन [छत्र चामर आदि] राज-चिह्नोंसे युक्त परम पुरुषका वे परमात्माके जिज्ञासुलोग वैदिक और तान्त्रिक विधिसे अर्चन करते हैं ।

नमस्ते वासुदेवाय नमः संकर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥२९॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥३०॥
इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि यथा शृणु ॥३१॥

तथा हे राजन् ! 'वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवं षडैश्वर्ययुक्त आपको प्रणाम है; ऋषिश्रेष्ठ नारायण, महापुरुष नर, विश्वेश्वर, विश्वरूप एवं सर्वभूतात्मा आपको बारम्बार प्रणाम है' इस प्रकार अनेकों शास्त्रविधियोंसे द्वापरयुगमें जगदीश्वरकी स्तुति करते हैं । अब जिस प्रकार कलियुगमें भगवान्‌की उपासना होती है वह सुनो ।

कृष्णवर्णं त्विषा कृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्[2] ।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥३२॥

उस समय कृष्णवर्ण, कृष्णकान्तिमय, साङ्गोपाङ्ग तथा आयुध और पार्षदोंसे युक्त भगवान् कृष्णकी बुद्धिमान्‌लोग संकीर्तन-प्रधान यज्ञोंद्वारा पूजा करते हैं ।

१. पा०—'तथा' । २. पा०—'साङ्गोपाङ्गं सपार्षदम्' ।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं[1]
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधाव-
द्वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥३४॥

[तथा इस प्रकार स्तुति करते हैं—] हे महापुरुष ! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं जो सदा ध्यान करनेयोग्य, मायाकृत पराभव (मोह) को हरनेवाले, वाञ्छित फल देनेवाले, तीर्थस्वरूप, शिव और ब्रह्मादिसे वन्दित, शरणदायक, सेवकोंका दुःख दूर करनेवाले, शरणागतरक्षक एवं संसार-समुद्रके लिये जहाजरूप हैं। हे धर्मात्मन् ! आप अपने पितृदेवके वचनोंसे सुरगणवाञ्छित दुस्त्यज राज्यवैभवको छोड़कर वनको चले गये थे और अपनी प्रियाकी इच्छासे [जान-बूझकर भी] कपटमृगके पीछे दौड़े। हे महापुरुष ! ऐसे आपके चरणकमलोंकी हम वन्दना करते हैं।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजञ्छ्रेयसामीश्वरो हरिः ॥३५॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न युगोंके लोग अपने-अपने युगके

१. पा०—'राजलक्ष्मीम्' ।

अनुरूप वर्ण, नाम और रूपादिसे समस्त पुरुषार्थोंके अधीश्वर श्रीहरिकी पूजा करते हैं।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते[1] ॥३६॥

हे राजन्! गुणज्ञ और सारग्राही सज्जन पुरुष सबसे अधिक कलियुगको ही प्रिय मानते हैं जिसमें भगवान्के नाम-संकीर्तनसे ही सम्पूर्ण स्वार्थकी सिद्धि हो जाती है।

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥३७॥

इस जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर घूमते हुए प्राणियोंका इस (हरि-कीर्तन) से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है; क्योंकि इससे संसार-बन्धन टूट जाता है और परम शान्ति प्राप्त होती है।

कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम्।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ॥३८॥
क्वचित्क्वचिन्महाराज द्राविडेषु च भूरिशः[2]।
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ॥३९॥
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी।
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायो भक्ता भविष्यन्ति[3] वासुदेवेऽमलाशयाः ॥४०॥

हे राजन्! सत्यादि युगोंमें रहनेवाले लोग भी इस कलियुग-

१. पा०—'अपि लभ्यते'। २. पा०—'भूयसः'।
३. पा०—'भगवति'।

मे जन्म लेना चाहते हैं। इस कलिमें कितने ही भगवद्भक्त महापुरुष जहाँ-तहाँ जन्म लेंगे, उनमेंसे अधिकतर द्रविडदेशमें होंगे जहाँ कि ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापवित्र कावेरी, प्रतीची और महानदी आदि नदियाँ बहती हैं। हे राजन्! जो लोग उन नदियोंका जल पीते हैं वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेवके भक्त हो जाते हैं।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तुम् ॥४१॥

हे राजन्! जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागतवत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी शरणमें जाता है वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बीजन अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता।

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥४२॥

अनन्यभावसे अपने चरणकमलोंका ही भजन करनेवाले अपने अनुरक्त भक्तसे यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान प्रभु उन सबका मार्जन कर देते हैं।

नारद उवाच

धर्मान्भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः।
जायन्तेयान्मुनीन्प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥४३॥

श्रीनारदजी बोले—इस प्रकार भागवत धर्मोंको सुनकर उपाध्यायोंके सहित मिथिलाधिपति महाराज निमिने उन जयन्ती[1]-नन्दन योगीश्वरोंका पूजन किया।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥४४॥

फिर सब लोगोंके देखते-देखते वे सिद्धगण अन्तर्धान हो गये और राजाने उन धर्मोंका आचरण करके अन्तमें परमपद प्राप्त किया।

त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवताञ्छ्रुतान्।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥४५॥

हे महाभाग वसुदेवजी! तुम भी संसारसे असंग रहकर इन सुने हुए भागवत धर्मोंमें श्रद्धापूर्वक स्थिर होनेसे परम गति प्राप्त करोगे।

युवयोः खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत्।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरिः ॥४६॥

तुम दोनों स्त्री-पुरुषोंके यशसे तो सारा संसार भरा हुआ है, क्योंकि त्रिलोकीनाथ भगवान् हरि तुम्हारे पुत्र-भावको प्राप्त हुए हैं।

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः[2]।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥४७॥

भगवान् कृष्णमें पुत्रस्नेह करते हुए उनको देखने, आलिङ्गन करने, वार्तालाप करने एवं साथ-साथ सोने, बैठने और भोजनादि करनेसे तुम दोनोंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर लिया है।

---

१. जयन्ती उनकी माताका नाम था।
२. पा०—'शय्यासनभोजनैः'।

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-[1]
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः[2] शयनासनादौ[3]
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥४८॥

जब वैरभावके कारण शिशुपाल, पौण्ड्र और शाल्वादि राजालोग सोने-बैठने आदिमें भी श्रीकृष्णचन्द्रकी गति, चितवन और चेष्टा आदिका ध्यान रहनेसे ही तच्चित्त रहनेके कारण उन्हींके समान हो गये तो जो उनके एकमात्र प्रेमी भक्त हैं उनकी तो बात ही क्या है?

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे[4] ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥४९॥

माया-मानवरूपसे जिन्होंने अपने ऐश्वर्यको छिपा रक्खा है, उन परमपुरुष अव्यय और सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें तुम पुत्र-बुद्धि मत करो ।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥५०॥

भूमिके भारभूत राजवेषधारी असुरोंके नाश और सज्जनोंकी रक्षाके लिये ही अवतार लेनेवाले इन श्रीकृष्णचन्द्रका यश मुक्तिके लिये ही संसारमें फैला है ।

१. पा०—'शिशुपालशाल्वपौण्ड्रादयः' ।
२. पा०—'आकृतिधियः' ।
३. पा०—'शयनाशनादौ' ।
४. पा०—'सर्वेश्वरे गुरौ' ।

श्रीशुक[1] उवाच

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च[2] महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥५१॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! यह सुनकर महाभाग वसुदेवजीने और परम सौभाग्यवती देवकीने अति विस्मित होकर अपना मोह छोड़ दिया ।

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५२॥

जो कोई सावधान होकर इस पवित्र इतिहासको स्मरण रखता है, वह इस लोकमें मोहका नाश कर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥



छठा अध्याय

श्रीकृष्ण और उद्धवके संवादका प्रारम्भ

श्रीशुक[3] उवाच

अथ ब्रह्मात्मजैर्देवैः प्रजेशैरावृतोऽभ्यगात् ।
भवश्च भूतभव्येशो ययौ भूतगणैर्वृतः ॥ १ ॥
इन्द्रो मरुद्भिर्भगवानादित्या वसवोऽश्विनौ ।
ऋभवोऽङ्गिरसो रुद्रा विश्वे साध्याश्च देवताः ॥ २ ॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. पा०—'तु' ।
३. पा०—'श्रीबादरायणिरुवाच' ।

गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धचारणगुह्यकाः ।
ऋषयः पितरश्चैव सविद्याधरकिन्नराः ॥ ३ ॥
द्वारकामुपसंजग्मुः सर्वे कृष्णदिदृक्षवः ।
वपुषा येन भगवान्नरलोकमनोरमः ।
यशो वितेने[1] लोकेषु सर्वलोकमलापहम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! एक बार अपने पुत्रों, देवताओं और प्रजापतियोंके सहित ब्रह्माजी, भूतगणोंसे घिरे हुए भूतभावन भगवान् शंकर, मरुद्गणोंके सहित देवराज इन्द्र, बारहों आदित्य, आठों वसु, अश्विनीकुमार, ऋभु, अङ्गिरा, रुद्र, विश्वेदेवा, साध्यगण, देवगण, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, ऋषिगण, पितृगण, विद्याधर और किन्नर—सब मिलकर श्रीकृष्ण-चन्द्रके उस निखिल-जन-मनमोहन दिव्य स्वरूपको देखनेके लिये द्वारकामें आये जिसके द्वारा भगवान्ने सम्पूर्ण संसारके मलको हरनेवाला अपना परम पावन सुयश फैलाया था ।

तस्यां विभ्राजमानायां समृद्धायां महर्द्धिभिः ।
व्यचक्षतावितृप्ताक्षाः कृष्णमद्भुतदर्शनम् ॥ ५ ॥
स्वर्गोद्यानोपगैर्माल्यैश्छादयन्तो यदूत्तमम् ।
गीर्भिश्चित्रपदार्थाभिस्तुष्टुवुर्जगदीश्वरम् ॥ ६ ॥

वे सब महती समृद्धिसे सम्पन्न अत्यन्त देदीप्यमान द्वारकापुरीमें विराजमान भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अद्भुत छविको अतृप्त नेत्रोंसे निहारने लगे और स्वर्गोद्यान नन्दनवनमें उत्पन्न हुए

१. पा०—'वितनुते लोके' ।

दिव्य पुष्पोंकी वर्षासे यदुश्रेष्ठको आच्छादित करते हुए उन्होंने [इस प्रकार] विचित्र पद और अर्थयुक्त सुललित वाक्यावलिसे जगन्नायक भगवान्‌की स्तुति की—

देवा ऊचुः

नताः स्म ते नाथ पदारविन्दं
बुद्धीन्द्रियप्राणमनोवचोभिः ।
यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तै-
र्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात् ॥ ७ ॥

देवगण बोले—हे नाथ ! कर्ममय विकट बन्धनसे छूटनेके इच्छुक भावुक भक्तजन आपके जिन चरणारविन्दोंका निरन्तर ध्यान करते हैं उन्हें हम बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वचनसे प्रणाम करते हैं।

त्वं मायया त्रिगुणयात्मनि दुर्विभाव्यं
व्यक्तं सृजस्यवसि लुम्पसि तद्गुणस्थः ।
नैतैर्भवानजित कर्मभिरज्यते वै
यत्स्वे सुखेऽव्यवहितेऽभिरतोऽनवद्यः ॥ ८ ॥

आप अपनी त्रिगुणमयी मायासे उसीका आश्रय लेकर इस अनिर्वचनीय संसारकी रचना, पालन और संहार किया करते हैं, किन्तु हे अजित ! आप इन कर्मोंसे लिप्त नहीं होते, क्योंकि आप अपने असीम आनन्दमें मग्न और अति निर्मल हैं।

शुद्धिर्नृणां न तु तथेड्य दुराशयानां
विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।

सत्त्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसंभृतया यथा स्यात् ॥९॥

हे परम पूज्य प्रभो ! जिनके मन मलिन हैं उन लोगोंकी विद्या, शास्त्रश्रवण, स्वाध्याय, दान, तप और क्रियासे वैसी शुद्धि कदापि नहीं हो सकती जैसी कि हे श्रेष्ठ ! सत्पुरुषोंकी अति श्रद्धापूर्वक सात्त्विक बुद्धिसे आपके परम पावन यशके श्रवणसे होती है ।

स्यान्नस्तवाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः
क्षेमाय यो मुनिभिरार्द्रहृदोह्यमानः ।
यः सात्वतैः समविभूतय आत्मवद्भि-[1]
र्व्यूहेऽर्चितः सवनशः स्वरतिक्रमाय ॥१०॥
यश्चिन्त्यते प्रयतपाणिभिरध्वराग्नौ
त्रय्या निरुक्तविधिनेश हविर्गृहीत्वा ।
अध्यात्मयोग उत योगिभिरात्ममायां
जिज्ञासुभिः परमभागवतैः परीष्टः ॥११॥

हे भगवन् ! श्रेयस्कामी मुनिगण जिनका प्रेमार्द्र हृदयसे पूजन करते हैं, धीर सात्वतगण (वैष्णवगण अथवा सात्वतवंशी यादव लोग) समान वैभव (सालोक्यादि) की प्राप्ति और स्वर्गके अतिक्रमणके लिये जिन्हें तीनों समय [वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार] व्यूहोंद्वारा पूजते हैं, सिद्धहस्त याजकगण वेदत्रयीकी विधिसे यज्ञाग्निमें आहुति देकर जिनका चिन्तन करते हैं तथा आपकी मायाके जिज्ञासु योगिजन

---

१. पा०—'आत्मविद्भिः' ।

जिनका अध्यात्मयोगद्वारा ध्यान करते हैं तथा जो परम भागवतोंके एकमात्र परम इष्ट हैं, आपके वे चरणकमल हमारे समस्त अशुभको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप हों।

पर्युष्टया तव विभो वनमालयेयं
संस्पर्धिनी भगवती प्रतिपत्निवच्छ्रीः।
यः सुप्रणीतममुयार्हणमाददन्नो
भूयात्सदाङ्घ्रिरशुभाशयधूमकेतुः ॥१२॥

हे विभो! आपकी कुम्हलायी हुई वनमालासे भगवती श्रीलक्ष्मीजी यद्यपि सौतके समान डाह करती हैं [क्योंकि माला और लक्ष्मीजी दोनों एक ही स्थान, आपके वक्षःस्थलमें रहती हैं] तथापि [भक्तोंका प्रेमोपहार होनेके कारण] आप इस मालाद्वारा किया हुआ अर्चन-पूजन स्वीकार करते ही हैं। ऐसे आपके चरण-कमल हमारे अशुभको भस्म करनेके लिये सदा अग्निस्वरूप हों।

केतुस्त्रिविक्रमयुतस्त्रिपतत्पताको
यस्ते भयाभयकरोऽसुरदेवचम्वोः।
स्वर्गाय साधुषु खलेष्वितराय भूमन्
पादः पुनातु भगवन्भजतामघं नः ॥१३॥

हे भूमन्! वामन अवतारमें तीन धाराओंमें बहनेवाली त्रिपथगामिनी श्रीगंगाजी जिसकी पताका थीं, तथा जो दानवोंको भय और देवताओंको अभय देनेवाला तथा साधुओंको स्वर्ग और दुष्टोंको नरकमें ले जानेवाला है ऐसा आपका वह चरण आपको भजनेवाले हमलोगोंके पापोंका परिशोध करे।

नस्योतगाव इव यस्य वशे भवन्ति
ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः ।
कालस्य ते प्रकृतिपूरुषयोः परस्य
शं नस्तनोतु चरणः पुरुषोत्तमस्य ॥१४॥

काम-क्रोधादिके कारण जिनमें परस्पर सङ्घर्ष हुआ करता है वे ब्रह्मा आदि सम्पूर्ण देहधारी नथे हुए बैलोंके समान जिन कालरूप और प्रकृति-पुरुषसे अतीत आपके वशीभूत हैं उन आप पुरुषोत्तमका चरणकमल हमारा कल्याण करे ।

अस्यासि हेतुरुदयस्थितिसंयमाना-
मव्यक्तजीवमहतामपि कालमाहुः ।
सोऽयं त्रिणाभिरखिलापचये प्रवृत्तः
कालो गभीररय उत्तमपूरुषस्त्वम् ॥१५॥

आप ही इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण तथा प्रकृति, पुरुष और महत्तत्त्वके भी नियन्त्रण करनेवाले काल हैं, ऐसा शास्त्र कहते हैं । वे शीत ग्रीष्म और वर्षारूप तीन नाभियों-वाले, गम्भीर वेगवाले कालरूप आप पुरुषोत्तम ही इस सम्पूर्ण संसारका क्षय करनेमें प्रवृत्त हैं ।

त्वत्तः पुमान्समधिगम्य[1] यया स्ववीर्यं
धत्ते महान्तमिव गर्भममोघवीर्यः ।
सोऽयं तयानुगत आत्मन आण्डकोशं
हैमं ससर्ज बहिरावरणैरुपेतम् ॥१६॥

---

१. पा०—'समधिकृत्य' ।

हे अमोघवीर्य ! आपकी प्रेरणासे ही यह पुरुष प्रकृतिसे संयुक्त होकर महत्तत्त्वरूप गर्भको स्थापित करता है और फिर त्रिगुणमयी मायाका अनुसरण करता हुआ वह महत्तत्त्व ही [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, अहंकार और मनरूप] सात आवरणों-सहित इस सुवर्ण-वर्ण ब्रह्माण्डकी रचना करता है ।

तत्तस्थुषश्च जगतश्च भवानधीशो
यन्माययोत्थगुणविक्रिययोपनीतान् ।
अर्थाञ्जुषन्नपि हृषीकपते न लिप्तो
येऽन्ये स्वतः परिहृतादपि बिभ्यति स्म ॥१७॥

अतः हे हृषीकेश ! आप सम्पूर्ण चराचर जगत्के अधीश्वर हैं; इसीसे मायाके गुणवैषम्यके द्वारा उपस्थित हुए इन समस्त पदार्थोंको भोगते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होते, जब कि और लोग उनका स्वयं त्याग करके भी उनसे डरते रहते हैं ।

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारि-
भ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणै-
र्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः ॥१८॥

[आपकी निर्विकारताका कहाँतक वर्णन किया जाय ?] जिनके इन्द्रियग्रामको मन्दमुसकानयुक्त चितवनसे प्रदर्शित भाव-भंगीयुक्त भ्रूकुटियोंसे चलाये हुए सुरत-मन्त्र-परिपुष्ट कामबाणोंसे सोलह सहस्र रमणियाँ भी विद्ध नहीं कर सकीं !

विस्मयस्तवामृतकथोदवहास्त्रिलोक्याः
पादावनेजसरितः शमलानि हन्तुम्[1] ।
आनुश्रवं श्रुतिभिरङ्घ्रिजमङ्गसङ्गै-
स्तीर्थद्वयं शुचिपदस्त उपस्पृशन्ति ॥१९॥

आपके कथामृतरूप जलके प्रवाहसे युक्त आपकी कीर्तिनदी तथा आपके पादप्रक्षालनके जलसे उत्पन्न श्रीगंगाजी दोनों त्रिलोकीकी पापराशिको धोनेमें समर्थ हैं, अतः सत्संगसेवी विवेकीजन श्रवणेन्द्रियद्वारा आपकी कीर्तिनदीमें और शरीरद्वारा श्रीगंगाजीमें गोता लगाते हुए इन दोनों ही तीर्थोंका सेवन करते रहते हैं ।

बादरायणिरुवाच

इत्यभिष्टूय विबुधैः[2] सेशः शतधृतिर्हरिम् ।
अभ्यभाषत गोविन्दं प्रणम्याम्बरमाश्रितः ॥२०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! देवमण्डलीमण्डित श्रीमहादेवजीके सहित आकाशमें स्थित भगवान् ब्रह्माजी श्रीकृष्णचन्द्रकी इस प्रकार स्तुति कर उन्हें प्रणाम करके बोले ।

ब्रह्मोवाच

भूमेर्भारावताराय पुरा विज्ञापितः प्रभो ।
त्वमस्माभिरशेषात्मंस्तत्तथैवोपपादितम् ॥२१॥

श्रीब्रह्माजी बोले—हे सर्वात्मन् प्रभो ! पहले हमने ही आपसे भूमिका भार उतारनेके लिये प्रार्थना की थी, सो वह सब कार्य अब सम्पन्न हो चुका ।

१. पा०—'शमलं निहन्तुम्' । २. पा०—'सुरैः' ।

धर्मश्च स्थापितः सत्सु सत्यसन्धेषु वै त्वया ।
कीर्तिश्च दिक्षु विक्षिप्ता सर्वलोकमलापहा ॥२२॥

आपने सत्यपरायण साधु पुरुषोंमें धर्मकी स्थापना भी कर दी और सम्पूर्ण लोकोंके मलको हरनेवाली अपनी कीर्तिका भी दशों दिशाओंमें विस्तार कर दिया ।

अवतीर्य यदोर्वंशे बिभ्रद्रूपमनुत्तमम् ।
कर्माण्युद्दामवृत्तानि हिताय जगतोऽकृथाः ॥२३॥

आपने यदुकुलमें अवतार लेकर इस अनुपम दिव्य स्वरूपको धारण कर जगत्के कल्याणके लिये बड़े-बड़े विचित्र कार्य किये हैं ।

यानि ते चरितानीश मनुष्याः साधवः कलौ ।
शृण्वन्तः कीर्तयन्तश्च तरिष्यन्त्यञ्जसा तमः ॥२४॥

हे भगवन् ! आपके जो चरित्र हैं उनका श्रवण और कीर्तन करनेवाले साधु पुरुष कलियुगमें सुगमतासे ही अज्ञानान्धकारको पार कर जायँगे ।

यदुवंशेऽवतीर्णस्य भवतः पुरुषोत्तम ।
शरच्छतं व्यतीयाय पञ्चविंशाधिकं प्रभो ॥२५॥

हे पुरुषोत्तम ! हे प्रभो ! आपको यदुवंशमें आविर्भूत हुए एक सौ पचीस वर्ष बीत चुके हैं ।

नाधुना तेऽखिलाधार देवकार्यावशेषितम् ।
कुलं च विप्रशापेन नष्टप्रायमभूदिदम् ॥२६॥

हे सर्वाधार ! अब देवताओंका कोई कार्य आपको करनेके

लिये नहीं रहा और विप्रशापसे आपका यह कुल भी अब नष्टप्राय हो गया है।

ततः स्वधाम परमं विशस्व यदि मन्यसे।
सलोकाँल्लोकपालान्नः पाहि वैकुण्ठकिङ्करान् ॥२७॥

इसलिये यदि आपकी इच्छा हो तो अपने परमधामको पधारिये और लोकोंके सहित अपने दास हम लोकपालोंका पालन कीजिये।

श्रीभगवानुवाच

अवधारितमेतन्मे यदात्थ विबुधेश्वर।
कृतं वः कार्यमखिलं भूमेर्भारोऽवतारितः ॥२८॥
तदिदं यादवकुलं वीर्यशौर्यश्रियोद्धतम्।
लोकं जिघृक्षद्रुद्धं मे वेलयेव महार्णवः ॥२९॥
यद्यसंहृत्य दृप्तानां यदूनां विपुलं कुलम्।
गन्तास्म्यनेन लोकोऽयमुद्वेलेन विनंक्ष्यति ॥३०॥
इदानीं नाश आरब्धः कुलस्य द्विजशापतः।
यास्यामि भवनं ब्रह्मन्नेतदन्ते तवानघ ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे देवेश्वर! तुम जैसा कहते हो मैं भी वैसा ही निश्चय कर चुका हूँ। मैंने तुम लोगोंका सम्पूर्ण कार्य कर दिया और पृथिवीका भार भी उतार दिया। यह यादवकुल बल विक्रम और वैभवसे उन्मत्त होकर संसारका ग्रास करना चाहता था, इसे मैंने इसी प्रकार रोक रक्खा था जैसे किनारा महासागरको रोके रहता है। इस उद्धत और बढ़े हुए यदुवंशका विनाश किये बिना यदि मैं चला जाता तो यह अपनी उच्छृङ्खलतासे समस्त लोकोंको नष्ट

कर देता । अब, क्योंकि ब्राह्मणोंके शापसे इसका नाश होनेहीवाला है, अतः हे ब्रह्मन् ! हे निष्पाप ! मैं भी इसका अन्त होनेपर तुम्हारे धामको जाऊँगा ।

श्रीशुक उवाच

इत्युक्तो लोकनाथेन स्वयम्भूः प्रणिपत्य तम् ।
सह देवगणैर्देवः स्वधाम समपद्यत ॥३२॥

श्रीशुकदेवजी बोले—विश्वनाथ भगवान्‌के इस प्रकार कहनेपर देवताओंके सहित श्रीब्रह्माजी उनको प्रणाम करके अपने लोकको चले गये ।

अथ तस्यां महोत्पातान्द्वारवत्यां समुत्थितान् ।
विलोक्य भगवानाह यदुवृद्धान्समागतान् ॥३३॥

इसके अनन्तर, द्वारकापुरीमें नित्य नये महान् उत्पात होते देखकर अपने पास आये हुए बड़े-बूढ़ोंसे भगवान्‌ने कहा—

श्रीभगवानुवाच[1]

एते वै सुमहोत्पाता ह्युत्तिष्ठन्तीह सर्वतः[2] ।
शापश्च नः कुलस्यासीद्ब्राह्मणेभ्यो दुरत्ययः ॥३४॥
न वस्तव्यमिहास्माभिर्जिजीविषुभिरार्यकाः ।
प्रभासं सुमहत्पुण्यं[3] यास्यामोऽद्यैव मा चिरम् ॥३५॥
यत्र स्नात्वा दक्षशापाद्गृहीतो यक्ष्मणोडुराट् ।
विमुक्तः किल्बिषात्सद्यो भेजे भूयः कलोदयम् ॥३६॥

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है । २. पा०—'सर्वशः' ।
३. पा०—'सुमहापुण्यम्' ।

वयं च तस्मिन्नाप्लुत्य तर्पयित्वा पितॄन्सुरान् ।
भोजयित्वोशिजो विप्रान्नानागुणवतान्धसा ॥३७॥
तेषु दानानि पात्रेषु श्रद्धयोप्त्वा महान्ति वै ।
वृजिनानि तरिष्यामो दानैर्नौभिरिवार्णवम् ॥३८॥

श्रीभगवान् बोले—आजकल यहाँ सब ओरसे ये बड़े-बड़े उत्पात होते रहते हैं और हमारे कुलको ब्राह्मणोंका दुस्तर शाप भी लगा ही हुआ है । अतः हे आर्यगण ! यदि हम जीना चाहते हों तो मेरी सम्मतिमें अब हमको यहाँ नहीं रहना चाहिये। आओ, अब अधिक विलम्ब न करके आज ही परमपवित्र प्रभासक्षेत्रको चलें, जिसमें स्नान करनेसे चन्द्रमा दक्षप्रजापतिके शापसे प्राप्त हुए क्षयरोगसे मुक्त हो गये थे और दोषमुक्त हो जानेके कारण उनकी कलाएँ फिर बढ़ने लगी थीं । हम भी उसीमें स्नान करके पितरों और देवताओंका तर्पण करेंगे और उत्साहपूर्वक नाना सुस्वादु व्यञ्जनोंसे उत्तम ब्राह्मणोंको भोजन करावेंगे । उस क्षेत्रमें श्रद्धापूर्वक सत्पात्रको दान देकर हम उस दानके द्वारा इन महान् संकटोंको उसी प्रकार पार कर जायँगे जैसे [लोग] सुदृढ़ नौकामें बैठकर समुद्रके पार हो जाते हैं ।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवतादिष्टा यादवाः कुलनन्दन[1] ।
गन्तुं कृतधियस्तीर्थं स्यन्दनान्समयूयुजन् ॥३९॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे कुरुकुलनन्दन राजा परीक्षित ! भगवान्‌का ऐसा आदेश होनेपर प्रभासतीर्थको जानेके लिये यादव लोग अपने रथ आदि सजाने लगे ।

१. पा०—'कुरुनन्दन' ।

तन्निरीक्ष्योद्धवो राजञ्छ्रुत्वा भगवतोदितम् ।
दृष्ट्वारिष्टानि घोराणि नित्यं कृष्णमनुव्रतः ॥४०॥
विविक्त उपसङ्गम्य जगतामीश्वरेश्वरम् ।
प्रणम्य शिरसा पादौ प्राञ्जलिस्तमभाषत ॥४१॥

यह सब तैयारियाँ देखकर, भगवान्की आज्ञा सुनकर और नित्यप्रतिके अरिष्टसूचक उत्पात देखकर श्रीकृष्णचन्द्रके अनुगत भक्त उद्धवजी एकान्तमें जा जगत्के ईश्वर भगवान् कृष्णके चरणोंपर शिर रखकर प्रणाम करनेके अनन्तर हाथ जोड़कर उनसे कहने लगे ।

उद्धव उवाच

देवदेवेश योगेश पुण्यश्रवणकीर्तन ।
संहृत्यैतत्कुलं नूनं लोकं संत्यक्ष्यते भवान् ।
विप्रशापं समर्थोऽपि प्रत्यहन्न यदीश्वरः ॥४२॥

उद्धवजी बोले—हे देवदेवेश्वर ! हे योगेश्वर ! आपका सुयश सुनने और कीर्तन करनेसे बड़ा पुण्य होता है । आपने समर्थ होकर भी जो ब्राह्मणोंके शापका प्रतिकार नहीं किया इससे हे प्रभो ! प्रतीत होता है कि इस कुलका संहार करके आप भी इस लोकको अवश्य छोड़ देंगे ।

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव ।
त्यक्तुं[1] समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि ॥४३॥

हे केशव ! मैं तो आपके चरणकमलोंको आधे क्षणके लिये भी छोड़ना नहीं चाहता, अतः हे नाथ ! मुझे भी अपने साथ अपने धामको ले चलिये ।

१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

तव विक्रीडितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् ।
कर्णपीयूषमास्वाद्य त्यजत्यन्यस्पृहां जनः[1] ॥४४॥

हे कृष्ण ! आपकी क्रीडाएँ मनुष्योंका परम मंगल करनेवाली हैं, उस कर्णामृतका पान करके आपका भक्त और समस्त इच्छाओंको त्याग देता है ।

शय्यासनाटनस्थानस्नानक्रीडाशनादिषु ।
कथं त्वां प्रियमात्मानं वयं भक्तास्त्यजेमहि ॥४५॥

सोने, बैठने, घूमने, घरमें रहने और स्नान, क्रीडा तथा भोजन करने आदि समस्त व्यापारोंमें निरन्तर आपके साथ रहनेवाले आपके प्रेमी भक्त हमलोग अपने प्रिय आत्मारूप आपको कैसे छोड़ सकेंगे ?

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिताः ।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि ॥४६॥

आपकी भोगी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और अलङ्कारोंको धारण करने तथा आपका उच्छिष्ट (जूठन) भोजन करनेवाले हम आपके दास आपकी मायाको अवश्य जीत लेंगे ।

वाताशना य ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनः ।
ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः संन्यासिनोऽमलाः ॥४७॥

जो वाताहारी (वायु भक्षण करनेवाले) ऊर्ध्वरेता और अध्यात्मविद्यामें श्रम करनेवाले ऋषिगण हैं तथा जो निर्मलचित्त शान्त संन्यासी हैं वे आपके ब्रह्मपदको प्राप्त होते हैं ।

---

१. पा०—'त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः' ।

वयं त्विह महायोगिन्भ्रमन्तः कर्मवर्त्मसु ।
त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः ॥४८॥
स्मरन्तः कीर्तयन्तस्ते कृतानि गदितानि च ।
गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि यन्नृलोकविडम्बनम् ॥४९॥

किन्तु हे महायोगेश्वर ! हम तो इस कर्मकलापमें ही पड़े हुए आपके चरित्र, बोलचाल, गति, मुसकान, चितवन, परिहास और माया-मानवरूपसे की हुई अन्यान्य चेष्टाओंकी परस्पर चर्चा, स्मरण तथा कीर्तन करके ही आपकी दुस्तर मायाको पार कर लेंगे ।

श्रीशुक उवाच[1]

एवं विज्ञापितो राजन्भगवान्देवकीसुतः ।
एकान्तिनं प्रियं भृत्यमुद्धवं समभाषत ॥५०॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार निवेदन किये जानेपर भगवान् देवकीनन्दन अपने अनन्य और प्रिय भक्त उद्धवसे बोले ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥



१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

ॐ

सातवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानका प्रारम्भ

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकांक्षिणः[1] ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाभाग उद्धव! तुम जो कुछ कहते हो, मैं वही करना चाहता हूँ; ब्रह्मा और महादेव आदि लोकपालगण मेरे गोलोकगमनके इच्छुक हैं।

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
तदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः ॥ २ ॥

मैंने यहाँ देवताओंका सम्पूर्ण कार्य समाप्त कर दिया है। इसीके लिये मैंने ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे अपने अंश बलदेवजीके साथ अवतार लिया था।

कुलं वै शापनिर्दग्धं नंक्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति ॥ ३ ॥

अब विप्रशापसे दग्ध हुआ यह कुल भी परस्परके युद्धसे नष्ट हो जायगा और इस द्वारकापुरीको आजसे सातवें दिन समुद्र डुबो देगा।

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।
भविष्यत्यचिरात्साधो कलिनापि निराकृतः ॥ ४ ॥

---

१. पा०—'अभिकाङ्क्षिताः'।

और हे साधो ! जिस दिन मैं इस लोकको छोड़ दूँगा उसी दिनसे यह मङ्गलहीन होकर शीघ्र ही कलियुगसे अभिभूत हो जायगा ।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले ।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे ॥ ५ ॥

इस पृथिवीतलको मेरे छोड़ देनेपर फिर तुमको भी यहाँ नहीं रहना चाहिये, क्योंकि हे भद्र ! कलियुगमें प्रजाकी रुचि अधर्ममें ही होगी ।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु[1] ।
मय्यावेश्य मनः सम्यक्समदृग्विचरस्व गाम् ॥ ६ ॥

अब तुम अपने कुटुम्बी बन्धुजनोंका सम्पूर्ण मोह छोड़कर मुझमें भलीभाँति चित्त लगाकर सर्वत्र समदृष्टि रखते हुए [स्वच्छन्दता-पूर्वक] पृथिवीपर विचरो ।

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥ ७ ॥

मन, वाणी, नेत्र और कर्ण आदिसे यह जो कुछ प्रतीत होता है सब नाशवान् है । मनोमय होनेके कारण इसे तुम माया ही जानो ।

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक् ।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा ॥ ८ ॥
तस्माद्युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे ॥ ९ ॥

१. पा०—'स्वजनबन्धनम्' ।

असंयतचित्त पुरुषको ही भेदबुद्धि होती है। वह गुण-दोषमय भ्रम ही है। उस गुण-दोषमयी बुद्धिके ही कर्म, अकर्म और विकर्मरूप भेद हैं। इसलिये चित्त और इन्द्रियोंका संयम कर इस जगत्को अपने आत्मामें और अपने व्यापक आत्माको मुझ परमात्मामें देखो।

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे ॥१०॥

इस प्रकार ज्ञान और विज्ञानसे युक्त होनेपर तुम समस्त देहधारियोंके आत्मस्वरूप हो जाओगे तथा आत्मानुभवसे ही सन्तुष्ट होनेके कारण फिर विघ्नोंसे बाधित न होगे।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः ॥११॥

इस प्रकार गुण-दोष दोनों प्रकारकी बुद्धिसे छूटा हुआ पुरुष न तो दोष-दृष्टिसे निषिद्धका त्याग करता है और न गुण-बुद्धिसे विहितका अनुष्ठान करता है; जिस प्रकार कि बालक।

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन्मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥१२॥

वह समस्त प्राणियोंका सुहृद् (शुभचिन्तक), शान्त और ज्ञान-विज्ञानके अटल निश्चयसे सम्पन्न होता है; तथा सम्पूर्ण जगत्को मेरा ही स्वरूप देखता हुआ फिर किसी विपत्तिमें नहीं पड़ता।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम् ॥१३॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवान्‌का ऐसा उपदेश सुनकर महान् भगवद्भक्त और आत्मतत्त्वके जिज्ञासु उद्धवजी अच्युतको प्रणाम करके इस प्रकार बोले।

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्न्यास योगात्मन्योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः ॥१४॥

उद्धवजी बोले—हे योगेश्वर ! हे योगवेत्ताओंके गुह्य निधि ! हे योगस्वरूप ! हे योगके उत्पत्तिस्थान ! आपने मेरे निःश्रेयस (मोक्ष)-के लिये संन्यासरूप कर्म-त्यागका उपदेश किया।

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन्कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः ॥१५॥

किन्तु हे भूमन् ! हे सर्वात्मन् ! मेरा ऐसा विचार है कि विषयलोलुप लोगोंके लिये यह कामनाओंका त्याग कठिन है; विशेषतः आपमें जिनकी भक्ति नहीं है उनके लिये तो वह और भी दुःसाध्य है।

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम् ॥१६॥

हे नाथ ! ऐसा ही मैं भी हूँ। 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस प्रकार-की मूढ़ बुद्धिसे युक्त होकर मैं आपकी मायासे विरचित देह और स्त्री-

पुत्रादि सम्बन्धियोंमें निमग्न हो गया हूँ। अतः हे भगवन्! इस दासको संक्षेपसे कहे हुए इस संन्यासतत्त्वका इस प्रकार उपदेश कीजिये जिससे कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ।

सत्यस्य ते स्वदृशं आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव माययेमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः ॥१७॥

हे भगवन्! आप सत्यस्वरूप स्वयंप्रकाश आत्मा ही हैं; आपसे अच्छा आत्मज्ञानका उपदेशक तो मुझे देवताओंमें भी दिखलायी नहीं देता। ये ब्रह्मा आदि समस्त देहधारी आपकी ही मायासे मुग्धचित्त होकर इन मायिक पदार्थोंको सत्य मान रहे हैं।

तस्माद्भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम्।
निर्विण्णधीरहमु ह[1] वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये ॥१८॥

अतः नाना प्रकारकी आपत्तियोंसे सन्तप्त होकर संसारसे खिन्नचित्त हुआ मैं आपकी शरण आया हूँ जो कि निर्मल, अनन्त, अपार, सर्वज्ञ, ईश्वर, कालादिसे अपरिच्छेद्य वैकुण्ठधाममें रहनेवाले तथा साक्षात् नरके सखा नारायण ही हैं।

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात् ॥१९॥

१. पा०—'इह मुहुः'।

श्रीभगवान् बोले—संसारतत्त्वका आलोचन करनेवाले मनुष्य प्रायः स्वयं ही अपने चित्तकी अशुभ वासनाओंसे अपना उद्धार कर लेते हैं।

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत्प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते ॥२०॥

[अपने हित या अहितको जाननेमें] समस्त प्राणियोंका आत्मा ही अपना गुरु है। उनमें भी मनुष्यका आत्मा तो विशेषरूपसे ऐसा ही है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा तुरन्त ही अपने श्रेयका निर्णय कर सकता है।

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम् ॥२१॥

मनुष्योंमें भी जो बुद्धिमान् पुरुष सांख्ययोग (प्रकृति-पुरुष-विवेक) में कुशल हैं वे सर्वशक्तिसम्पन्न मेरे स्वरूपको भली-भाँति देख पाते हैं।

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया ॥२२॥

मैंने एकपद, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद, बहुपद और पादहीन-रूपसे नाना प्रकारके शरीरोंकी रचना की है, किन्तु उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय तो मनुष्य-शरीर ही है।

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥२३॥

क्योंकि संयतचित्त पुरुष इसी देहमें हेतु और फलका विचार

करते हुए दिखायी देनेवाले गुण (बुद्धि आदि इन्द्रिय) रूप लिंगोंके द्वारा अनुमान करके मुझ अग्राह्यका अनुसन्धान करते हैं।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः ॥२४॥

इस विषयमें अवधूत और महान् तेजस्वी यदुके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उल्लेख किया जाता है।

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं[1] यदुः पप्रच्छ धर्मवित् ॥२५॥

एक बार धर्मज्ञ राजा यदुने एक सर्वथा निर्भीक और महाविद्वान् युवा अवस्थावाले अवधूतको विचरते देखकर पूछा—

यदुरुवाच[2]

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोके विद्वांश्चरति बालवत् ॥२६॥

यदुने कहा—हे ब्रह्मन्! कर्तापनके भावसे रहित ऐसी विमल बुद्धि आपको किस प्रकार और कहाँसे प्राप्त हुई जिसके कारण आप विद्वान् होकर भी बालकके समान [असङ्ग भावसे] विचरते हैं।

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः ॥२७॥

लोग प्रायः आयु, यश अथवा वैभवादिके हेतुसे ही अर्थ, धर्म, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं।

---

१. पा०—'करुणम्'।

२. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः ।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत् ॥२८॥

किन्तु आप तो समर्थ, विद्वान्, विवेकी, सुन्दर और मिष्ट-भाषी होकर भी जड, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान न कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं ।

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना ।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः ॥२९॥

संसारमें सभी लोग लोभ और कामनाओंके दावानलसे जल रहे हैं किन्तु गंगाजलमें खड़े हुए गजराजके समान उस अग्निसे मुक्त होनेके कारण आप उससे सन्तप्त नहीं हैं ।

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम् ।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः ॥३०॥

हे ब्रह्मन् ! हम पुत्र-कलत्रादि संसार-स्पर्शसे रहित एवं आत्मस्वरूपमें स्थित आपके आनन्दका कारण पूछते हैं, सो आप हमें बतलाइये ।

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा ।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—ब्राह्मणोंके भक्त और अच्छी बुद्धिवाले यदुके इस प्रकार पूछनेपर वे महाभाग द्विजश्रेष्ठ प्रसन्न होकर उस विनयावनत राजासे कहने लगे ।

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन्बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः ।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु ॥३२॥

अवधूत बोले—हे राजन् ! मेरे ऐसे बहुत-से गुरु हैं जिनको मैंने अपनी बुद्धिसे ही स्वीकार किया है और जिनसे विवेक-बुद्धि पाकर मैं बन्धनरहित हुआ स्वच्छन्द विचरता हूँ; उनके नाम सुनो—

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः ।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद्गजः ॥३३॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः ।
कुमारी शरकृत्सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत् ॥३४॥

पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतङ्ग, मधुमक्षिका, हाथी, मधुहारी (शहद ले जानेवाला), हरिण, मीन, पिङ्गला वेश्या, कुररपक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, सर्प, ऊर्णनाभि (मकड़ी) और भृङ्गीकीट ।

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः ।
शिक्षावृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः ॥३५॥

हे राजन् ! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया था और इन्हींसे शिक्षा ग्रहण करते हुए मैंने इस लोकमें अपनेको सुशिक्षित किया है ।

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते ॥३६॥

अब हे ययातिनन्दन ! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, हे पुरुषसिंह ! वह सब मैं ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो।

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद्विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम् ॥३७॥

[पृथ्वीपर नाना प्रकारके आघात और उत्पात होते हैं, किन्तु वह सदा समभावयुक्त और शान्त रहती है, उसी प्रकार] दैव-मायासे प्रेरित प्राणी यदि कष्ट भी पहुँचावें तब भी विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपने मार्गसे विचलित न हो। यह धैर्य-व्रत मैंने पृथ्वीसे सीखा है।

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् ॥३८॥

जिनकी सारी चेष्टाएँ सर्वदा दूसरोंके लिये हैं और सम्पूर्ण सम्पत्ति केवल परोपकारके ही लिये है, साधुको चाहिये कि उन पर्वत और वृक्षोंका शिष्य होकर उनसे परोपकार करना सीखे।

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः ॥३९॥
विषयेष्वाविशन्योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत् ॥४०॥
पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक् ॥४१॥

प्राणवायु जैसे केवल आहारमात्रकी इच्छा रखता है, किसी प्रकारके रूप, रस आदिकी उसे आवश्यकता नहीं होती उसी

प्रकार योगीको चाहिये कि जिसमें ज्ञान नष्ट न हो और मन-वाणी भी विकृत न हों ऐसे [हित और मित] आहारसे ही सन्तुष्ट रहे, रसना आदि इन्द्रियोंको प्रिय लगनेवाले पदार्थोंकी इच्छा न करे। तथा बाह्यवायु सर्वगामी होता हुआ भी जैसे स्वरूपसे सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार नाना प्रकारके विषयोंको ग्रहण करता हुआ भी योगी उनके गुण-दोषोंसे मुक्त रहकर उनमें लिप्त न हो। गन्धका वहन करता हुआ भी वायु जैसे सदा शुद्ध रहता है, उसी प्रकार इस पार्थिव शरीरमें रहनेके कारण इसके गुणोंका आश्रय होकर भी आत्मज्ञानी पुरुष उनमें आसक्त न हो। [इस प्रकार मैंने प्राणवायुसे संयम और बाह्यवायुसे असंगताकी शिक्षा ली है।]

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत् ॥४२॥

[मैंने आकाशसे जो सीखा है वह बतलाता हूँ] आत्म-स्वरूपसे सबके अनुगत होनेके कारण ब्रह्म स्थावर-जंगम सभी उपाधियोंमें स्थित है। मुनिको चाहिये कि [मणियोंमें व्याप्त सूत्रके समान] उस सर्वगत आत्माकी व्याप्तिके द्वारा उसकी अपरिच्छिन्नता, असंगता और आकाशरूपताकी भावना करे।

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत्कालसृष्टैर्गुणैः पुमान् ॥४३॥

जिस प्रकार तेज, जल और अन्नमय पदार्थोंसे तथा वायुजनित

मेघादिसे आच्छन्न हुआ भी आकाश उनसे अछूता रहता है उसी प्रकार आत्मा भी कालकृत गुणोंसे अलग है।

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः ॥४४॥

[जलसे मैंने जो सीखा है सो सुनो—] जलके समान स्वभाव-से ही शुद्ध, सरस, मधुर और मनुष्योंके लिये तीर्थस्वरूप हुआ मुनि अपने साथियोंको दर्शन, स्पर्श और यशोगानसे ही पवित्र कर देता है।

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि[1] युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत् ॥४५॥
क्वचिच्छन्नः क्वचित्स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन्प्रागुत्तराशुभम् ॥४६॥
स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि ॥४७॥

[अग्निसे मैंने यह शिक्षा ली है कि] जितेन्द्रिय मुनि अग्निके समान तेजस्वी, तपके कारण देदीप्यमान और निर्विकार होता है; वह केवल उदररूप पात्र रखता है [अर्थात् जो कुछ मिलता है उसे पेटमें डाल लेता है, सञ्चय करके नहीं रखता] तथा अग्निके समान तथा सर्वभक्षी होकर भी संयतचित्त होता है; और [जिस प्रकार अग्नि कभी सामान्यरूपसे अव्यक्त और कभी विशेषरूपसे प्रकट रहता है उसी प्रकार] वह कभी गुप्त

१. पा०—'सर्वभक्षो वियुक्तात्मा'।

और कभी प्रकट होकर रहता है; एवं आत्मकल्याणकी इच्छावालोंसे सेवित होता है वह भिक्षा देनेवालोंके अतीत और आगामी अशुभोंको भस्म करता हुआ सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है। योगीको विचारना चाहिये कि भिन्न-भिन्न उपाधियों (काष्ठ-लोहादि) में प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे तद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार विभु आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए इस भावाभावरूप प्रपञ्चमें प्रविष्ट हुआ उपाधियोंके अनुसार चेष्टा करता है।

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना[1] ॥४८॥
कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम् ॥४९॥

[मैंने चन्द्रमासे जो शिक्षा ली है सो सुनो—] अलक्ष्यगति कालके प्रभावसे घटने-बढ़नेवाली चन्द्रमाकी कलाओंके समान जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त सारी अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं, आत्माकी नहीं। अग्निकी शिखा जिस प्रकार निरन्तर क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है किन्तु यह भेद प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार जल-प्रवाहके समान वेगवाले कालके द्वारा भूतोंकी उत्पत्ति और नाश क्षण-क्षणमें होते रहते हैं; किन्तु वे अज्ञानवश दिखलायी नहीं देते।

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं[2] विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः ॥५०॥

1. पा०—'अव्यक्तमूर्त्तिना'।
2. पा०—'यथाकाले'।

बुध्यते स्वेन भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः ।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत् ॥५१॥

[मैंने सूर्यसे जो सीखा है वह सुनो—] सूर्य जिस प्रकार अपनी किरणोंसे पृथ्वीके जलको खींचकर समयानुसार उसे बरसा देता है, उसी प्रकार योगी गुणानुवर्तिनी इन्द्रियोंद्वारा त्रिगुणमय पदार्थोंको ग्रहण करता है और यथासमय उनका त्याग भी कर देता है, उनमें आसक्त नहीं होता। [योगीको विचारना चाहिये कि जलके पात्रोंमें प्रतिबिम्बित] सूर्यके समान व्यक्तिगत उपाधियोंके भेदसे ही स्थूल बुद्धिवाले लोगोंको आत्मा व्यक्तिविशेषमें स्थित-सा प्रतीत होता है। [वस्तुतः तो वह एक और अपरिच्छिन्न ही है।]

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित् ।
कुर्वन्विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः ॥५२॥

[मैंने कपोत (कबूतर) से यह सीखा है कि—] कभी किसीके साथ अधिक स्नेह अथवा संग न करना चाहिये नहीं तो दीनबुद्धि कबूतरके समान क्लेश उठाना पड़ता है।

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः ॥५३॥

हे राजन् ! एक कपोत किसी वनमें पेड़पर घोंसला बनाकर कुछ वर्षोंतक अपनी स्त्री कबूतरीके साथ उसमें रहा।

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः ॥५४॥

वे गृहस्थ और परस्परके प्रेम-बन्धनसे बँधे हुए कबूतर-कबूतरी दृष्टिसे दृष्टि, अंगसे अंग और मनसे मन मिलाये हुए रहते थे।

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम्।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु ॥५५॥

[परस्पर] विश्वस्त होनेके कारण वे उस वन्य प्रदेशमें मिल-जुलकर एक साथ सोते, बैठते, घूमते, ठहरते तथा बातचीत, क्रीडा और भोजनादि करते।

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः ॥५६॥

हे राजन्! अपनेको तृप्त करनेवाली अपनी कृपापात्री वह कबूतरी जब-जब जो कुछ चाहती, वह अजितेन्द्रिय कबूतर, अत्यन्त कष्ट उठाकर भी, उसे वही वस्तु यथेच्छ लाकर देता।

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती ॥५७॥

समयानुसार उस कबूतरीको पहला गर्भ रहा और उस सतीने अपने स्वामीके निकट घोंसलेमें अण्डे दिये।

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः ॥५८॥

श्रीहरिकी अचिन्त्य शक्तिसे अवयवोंकी रचना होनेपर कुछ कालमें उनमेंसे सुकोमल शरीर और रोमोंवाले बच्चे हुए।

१. पा०—'राजन्नत्यर्थम्'।

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः ॥५९॥

उनका शब्द सुनते और उनके कलरवसे आनन्दमग्न होते हुए उन पुत्रवत्सल दम्पतियोंने बड़े प्रेमसे उनका लालन-पालन किया ।

तासां पतत्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः ।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः ॥६०॥

उन प्रसन्नचित्त बच्चोंके पंखोंसे, सुकोमल स्पर्शसे, कलरवसे, बालचेष्टाओंसे और फुदकनेसे उन माता-पिताओंको बड़ा आनन्द होता था ।

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया ।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून्पुपुषतुः प्रजाः ॥६१॥

इस प्रकार भगवान् विष्णुकी मायासे मोहित होकर परस्पर स्नेहबन्धनमें बँधे हुए और [निरन्तर उनके पालन-पोषणकी चिन्तासे] व्याकुल हुए वे कबूतर-कबूतरी अपनी सन्तान उन बच्चोंका पालन करते रहे ।

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम् ॥६२॥

एक दिन बड़े कुटुम्बवाले वे दोनों कबूतर-कबूतरी चारा लानेके लिये गये और चारेकी खोजमें बहुत देरतक उस वनमें इधर-उधर भटकते रहे ।

दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद्यदृच्छातो वनेचरः ।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके ॥६३॥

इधर अकस्मात् एक वनवासी बहेलियेने उन कपोतशावकोंको घोंसलेके आसपास फिरते देखकर जाल फैलाकर पकड़ लिया।

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे[1] सदोत्सुकौ।
गतौ[2] पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः ॥६४॥

इतनेमें अपनी सन्तानके पोषणमें अति उत्सुक रहनेवाले वे कपोत-कपोती भी, जो वनमें गये हुए थे, चारा लेकर अपने घोंसलेके समीप आये।

कपोती स्वात्मजान्वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत्क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता ॥६५॥

कबूतरी अपने बच्चोंको जालमें फँसे और दुःखसे चिल्लाते हुए देखकर स्वयं भी अत्यन्त दुःखित हो विलाप करती उनके पास दौड़ गयी।

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान्पश्यन्त्यपस्मृतिः ॥६६॥

इस प्रकार निरन्तर स्नेहबन्धनमें बँधी हुई और दैवमायासे दीनचित्त हुई उस कबूतरीने उन बच्चोंको देखकर बेसुध हो स्वयं ही अपनेको उस जालमें फँसा दिया।

कपोतश्चात्मजान्बद्धानात्मनोऽप्यधिकान्प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो[3] विललापातिदुःखितः ॥६७॥

१. पा०—'प्रजापोषणसोत्सुकौ'।
२. पा०—'प्रजापोषणम्'।
३. पा०—'दीनाम्'।

तब वह कपोत अपने प्राणोंसे भी प्यारे बच्चों और प्राणप्रिया दुःखिता भार्याको जालमें फँसे देखकर अति दुःखित होकर विलाप करने लगा ।

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः ।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः ॥६८॥

अहो ! मुझ भाग्यहीन मन्दमतिकी यह दुर्दशा तो देखो, जो मेरे संसार-सुखसे तृप्त और कृतार्थ हुए बिना ही मेरा यह अर्थ, धर्म, कामरूप त्रिवर्गका साधन बना-बनाया घर बिगड़ गया !

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता ।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः ॥६९॥

अहो ! मेरी सब प्रकार योग्य और आज्ञाकारिणी पतिव्रता पत्नी भी मुझे इस सूने घरमें अकेला छोड़कर अपने भोलेभाले बालकोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है ।-

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः ।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः ॥७०॥

इस प्रकार जिसके स्त्री और बच्चे नष्ट हो रहे हैं ऐसा मैं अत्यन्त दीन और विधुर (स्त्रीहीन) होकर इस सूने घरमें अपने दुःखमय जीवनको किसलिये रखनेकी इच्छा करूँ ?

तांस्तथैवावृतान्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान्विचेष्टतः ।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत् ॥७१॥

इस प्रकार जालमें फँसकर मृत्युग्रस्त हुए और [उससे

छूटनेके लिये] प्रयत्न करते हुए उन स्त्री और बच्चोंको देखकर भी वह दीन और बुद्धिहीन कबूतर स्वयं भी उसीमें कूद पड़ा।

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान्कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम् ॥७२॥

तब उस कुटुम्बी कबूतरको तथा कबूतरी और बच्चोंको पाकर अपनेको कृतकृत्य मानता हुआ वह निर्दयी बहेलिया अपने घर चला गया।

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन्कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति ॥७३॥

इस प्रकार जो व्यक्ति कुटुम्बी अशान्तचित्त और निरन्तर द्वन्द्वमें ही पड़ा रहता है वह अपने कुटुम्बके पालन-पोषणमें ही लगे रहनेसे उस पक्षीकी भाँति स्नेहबन्धनके कारण दीन होकर दुःख भोगता है।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः ॥७४॥

खुले हुए मुक्तिद्वारके समान इस मनुष्य-देहको पाकर जो उस कपोतके समान घरमें आसक्त है उसे शास्त्रमें 'आरूढच्युत' (चढ़कर गिरा हुआ) कहा है।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तमोऽध्यायः ॥७॥



आठवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानका मध्य

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः ॥ १ ॥

अवधूत बोले—हे राजन्! [मैंने अजगरसे जो सीखा है सो सुनो—] दुःखके समान इन्द्रियोंके सुख भी स्वर्ग अथवा नरकमें स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं, अतः बुद्धिमान् पुरुष उनकी इच्छा न करे ।

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा ।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः ॥ २ ॥

सरस हो अथवा नीरस, अधिक हो अथवा थोड़ा, जैसा टुकड़ा बिना माँगे अनायास ही मिल जाय उसीको अजगरके समान उदासीनभावसे खा ले ।

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः ।
यदि नोपनमेद्ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक् ॥ ३ ॥

यदि भोजन न मिले तो प्रारब्धभोग समझकर अजगरके समान उसके लिये कोई प्रयत्न न करके बहुत कालतक निराहार ही पड़ा रहे ।

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद्देहमकर्मकम् ।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि ॥ ४ ॥

मनोबल, इन्द्रियबल और शारीरिक बलसे युक्त होकर भी निश्चेष्ट शरीरसे पड़ा रहे; बिना निद्राके भी सोया हुआ-सा रहे और इन्द्रिययुक्त होकर भी कोई व्यापार न करे।

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः ॥ ५ ॥
समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः ॥ ६ ॥

[अब समुद्रसे जो सीखा है वह सुनाता हूँ—] मुनिको निस्तरङ्ग समुद्रके समान शान्त-गम्भीर, अगम्य, अवेद्य, अनन्तपार और क्षोभरहित रहना चाहिये। जिस प्रकार नदियोंके कारण समुद्र नहीं बढ़ता [और न ग्रीष्मऋतुमें घटता ही है] उसी प्रकार नारायणपरायण योगीको भी पदार्थोंके मिलनेसे प्रसन्न और न मिलनेसे उदास न होना चाहिये।

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ ७ ॥

[अब, मैंने पतङ्गसे जो सीखा है सो सुनो—] पतङ्ग जैसे रूपपर मोहित होकर अग्निमें जल मरता है उसी प्रकार अजितेन्द्रिय पुरुष देवमायारूपिणी स्त्रीको देखकर उसके हाव-भावोंसे प्रलोभित होकर घोर अन्धकारमें पड़ता है।

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः ॥ ८ ॥

स्त्री, सुवर्ण-भूषण और वस्त्रादि मायिक पदार्थोंमें जो मूढ़ भोगबुद्धिसे फँसा हुआ है, वह विवेक-बुद्धिको खोकर पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है।

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद्ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद्वृत्तिं माधुकरीं मुनिः ॥ ९ ॥

[मैंने मधुमक्षिकासे जो सीखा है वह कहता हूँ—] भिक्षुको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देते हुए माधुकरी-वृत्तिका आश्रय ले, और जितनेसे शरीर-यात्राका निर्वाह हो जाय ऐसा थोड़ा-थोड़ा अन्न [कई घरोंसे माँगकर] खा ले। [नहीं तो एक ही कमलकी गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बन्द हो जानेसे नष्ट हो जाता है उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा।]

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात्पुष्पेभ्य इव षट्पदः ॥१०॥

भ्रमर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न पुष्पोंसे उनका सार ले लेता है उसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुषको भी छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार ले लेना चाहिये।

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न संग्रही ॥११॥
सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव संगृह्णन्सह तेन विनश्यति ॥१२॥

इसके अतिरिक्त भिक्षुकको चाहिये कि मधुमक्षिकाकी भाँति भिक्षामेंसे सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये सञ्चय करके न रक्खे; कर और उदरको ही पात्र बनावे [अर्थात् जितना हाथमें आ सके और पेटमें समा सके उतना ही अन्न ले]। भिक्षुकको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये संग्रह नहीं करना चाहिये। नहीं तो अपने सञ्चित मधुके साथ जैसे मधुमक्षिका नष्ट होती है उसी प्रकार यति भी संग्रह करनेपर उस संगृहीत पदार्थके साथ नष्ट हो जाता है।

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद्दारवीमपि।
स्पृशन्करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥१३॥

[मैंने हाथीसे जो सीखा है सो सुनो—] भिक्षुको उचित है कि पैरसे भी लकड़ीकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करे; यदि करेगा तो हथिनीके अंग-संगसे जैसे हाथी बँध जाता है उसी प्रकार बँध जायगा।*

नाधिगच्छेत्स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥१४॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि साक्षात् अपनी मृत्युरूप स्त्रीको कभी स्वीकार न करे, क्योंकि जो कोई स्त्री-संग करता है उसे सबल पुरुष उसी प्रकार मारते हैं जैसे [हथिनीके पीछे लगे हुए हाथीको] दूसरे हाथी मारते हैं।

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है।

न[1] देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद्दुःखसञ्चितम् ।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थविन्मधु ॥१५॥

[मैंने शहद ले जानेवालेसे यह सीखा है कि] लोभी पुरुष जिस पदार्थका बड़े दुःखसे संग्रह करते हैं उसे वे न तो स्वयं भोगते हैं और न किसी दूसरेको देते हैं; [मधुमक्षिकाओंके मधुको ले जानेवाले] मधुहारीकी भाँति उनके धनको भी कोई और अर्थवेत्ता ही भोगता है ।

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः ।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम् ॥१६॥

मधुमक्षिकाओंके मधुको जैसे मधुहारी उनके सामने ही खाता है उसी प्रकार अति कष्टपूर्वक संग्रह किये हुए धनसे तरह-तरहके गृहोचित सुखोंकी आशा रखनेवाले गृहस्थियोंके पदार्थोंको भिक्षु उनसे भी पहले भोगता है [क्योंकि गृहस्थके लिये स्वयं भोजन करनेसे पूर्व भिक्षु या ब्रह्मचारीको भोजन करानेका विधान है] ।

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद्यतिर्वनचरः क्वचित् ।
शिक्षेत हरिणाद्बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात् ॥१७॥

[मैंने हरिणसे जो शिक्षा ली है वह सुनो—] वनवासी यतिको चाहिये कि कभी ग्राम्यगीतोंको न सुने; व्याधके गीतसे मोहित होकर बन्धनमें पड़े हुए हरिणसे इसकी शिक्षा ले ।

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन्ग्राम्याणि योषिताम् ।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः ॥१८॥

१. पा०—'नो' ।

स्त्रियोंके ग्राम्य गाने-बजाने और नृत्य देखने-सुननेसे हरिणी-पुत्र ऋष्यशृंग उनके वशीभूत होकर उनके हाथकी कठपुतली हो गये थे।

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा ॥१९॥

[मछलीसे मैंने यह सीखा है कि] बुद्धिहीन मत्स्य जैसे काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देता है उसी प्रकार रसलोलुप मनुष्य इस अत्यन्त बलवती जिह्वाके वशीभूत होकर मारा जाता है।

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते ॥२०॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥२१॥

विवेकी पुरुष निराहारके द्वारा रसनाके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंको तो शीघ्र ही अपने वशमें कर लेते हैं, रसना तो अन्न-त्यागसे और भी प्रबल हो जाती है; [अतः इसका जीतना अति कठिन है] परन्तु अन्य इन्द्रियोंको जीत लेनेपर भी जबतक मनुष्य रसनेन्द्रियको अपने वशमें न करे तबतक वह जितेन्द्रिय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि रसके जीतनेपर ही (इन्द्रियोंके) सब विषय जीते जा सकते हैं।

पिङ्गला नाम वेश्यासीद्विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन ॥२२॥

हे राजकुमार ! पूर्वकालमें विदेहनगरीमें पिङ्गला नामकी एक वेश्या थी । उससे भी मैंने कुछ सीखा है, वह सुनो ।

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं संकेत उपनेष्यती[1] ।
अभूत्काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम् ॥२३॥

एक दिन वह स्वेच्छाचारिणी किसी प्रेमीको अपने रमण-स्थानमें लानेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर बहुत देरतक अपने घरके द्वारपर खड़ी रही ।

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान्पुरुषर्षभ ।
ताञ्छुल्कदान्वित्तवतः कान्तान्मेनेऽर्थकामुका ॥२४॥

हे नरश्रेष्ठ ! वह अर्थलोलुपा गणिका जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता उसीको देखकर समझती कि कोई बहुत धन देकर रमण करनेवाला धनवान् नागरिक होगा ।

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी[2] ।
अप्यन्यो वित्तवान्कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः ॥२५॥

किन्तु उसके वहाँसे होकर निकल जानेपर वह वेश्या विचारती कि कोई और बहुत धन देनेवाला धनी पुरुष मेरे पास आता होगा ।

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती[3] ।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं[4] समपद्यत ॥२६॥

इसी प्रकारकी दुराशामें द्वारके पास खड़े-खड़े उसकी नींद

१. पा०—'संकेतमुपनेष्यति' । २. पा०—'सङ्केतोपजीविना' । ३. पा०—'अवलम्बिनी' । ४. पा०—'निशीथः' ।

जाती रही और कभी बाहर, कभी भीतर आते-जाते उसे आधी रात हो गयी।

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥२७॥

धनकी दुराशासे प्रतीक्षा करते-करते जिसका मुख सूख गया है ऐसी उस व्याकुलचित्ता वेश्याको चिन्ताके कारण ही होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ।

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥२८॥

इस प्रकार चित्तमें वैराग्य उत्पन्न होनेपर उसने जो कुछ कहा, वह मुझसे सुनो। हे राजन्! पुरुषके आशारूपी पाशके लिये वैराग्य खड्गके समान है।

न ह्यङ्गाजातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा[1] विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥२९॥

हे तात! जिसको वैराग्य नहीं है वह पुरुष कभी देहबन्धनको नहीं छोड़ सकता, जिस प्रकार कि ज्ञानहीन पुरुष ममताका त्याग नहीं कर सकता।

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥३०॥

---

१. पा०—'तथा'।

२. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

पिङ्गला बोली—अहो ! मुझ इन्द्रिय-परायणाके मोहका विस्तार तो देखो जो मैं मूर्खा इन तुच्छ और असद्बुद्धि प्रेमियोंसे सुखकी कामना करती हूँ ।

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय ।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा ॥३१॥

अरे ! मैं बड़ी बेसमझ हूँ, जो अपने समीप ही रमण करनेवाले, तथा नित्य रति और धनके देनेवाले इन प्रियतम सत्पुरुष (परमेश्वर) को छोड़कर कामनापूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, भय, राग, शोक और मोह आदि देनेवाले इन तुच्छ पुरुषोंको भजती हूँ ।

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्केत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद्यार्थतृषोऽनुशोच्या-
त्क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती ॥३२॥

अहो ! मैंने इस अति निन्दनीय वेश्यावृत्तिसे व्यर्थ ही अपने आत्माको सन्तप्त किया । हाय ! मैं इन स्त्रीलम्पट, अर्थलोलुप और अनुशोचनीय पुरुषोंद्वारा खरीदे हुए शरीरसे रति और धनकी इच्छा करती थी !

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचारोमनखैः पिनद्धम् ।

क्षरन्नवद्वारमगारमेत-
द्विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या ॥३३॥

जो अस्थिमय टेढ़े-तिरछे बाँसों और थूनियोंसे बना हुआ है, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत है तथा नाशवान् और मलमूत्रसे भरा हुआ नौ द्वारोंवाला घररूप यह देह है उसका मेरे अतिरिक्त और कौन (कान्त समझकर) सेवन करेगी ।

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः ।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात्काममच्युतात् ॥३४॥

इस विदेहनगरीमें एक मैं ही ऐसी मूर्खा और दुष्टा हूँ जो इन आत्मप्रद अच्युत परमात्माको छोड़कर किसी अन्यसे अपनी कामना पूर्ण कराना चाहती हूँ ।

सुहृत्प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम् ।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा ॥३५॥

ये सब शरीरधारियोंके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं, अब मैं इनके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजीके समान इन्हींके साथ रमण करूँगी ।

कियत्प्रियं ते व्यभजन्कामा ये कामदा नराः ।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः ॥३६॥

अरी ! ये जो भोग और भोगप्रद पुरुष हैं इन्होंने तेरा कितना प्रिय साधन किया ? अथवा और भी आदि-अन्तवाले पुरुष तथा कालसे भयभीत देवगण हैं वे भी अपनी भार्याओंको कितना सन्तुष्ट कर पाते हैं ?

नूनं मे भगवान्प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः ॥३७॥

अवश्य ही मेरे किसी शुभ कर्मसे भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए हैं जिससे कि इस दुराशासे मुझको ऐसा सुखकारक वैराग्य उत्पन्न हुआ है।

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति ॥३८॥

यदि मेरा भाग्य मन्द होता तो मुझको ये कष्ट न उठाने पड़ते जो कि उस वैराग्यके हेतु हैं जिसके द्वारा मनुष्य गृह आदिके बन्धनको काटकर शान्ति लाभ करता है।

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम् ॥३९॥

अतः अब मैं इस उपकारको शिर-आँखोंपर लेकर विषय-जनित दुराशाको छोड़कर उस जगदीश्वरकी ही शरणमें जाती हूँ।

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै ॥४०॥

अब मैं सन्तोष और श्रद्धापूर्वक प्रारब्धवश जो कुछ मिलेगा उसीसे जीवननिर्वाह करती हुई इस आत्मरूप रमणके साथ ही सानन्द विहार करूँगी।

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥४१॥

संसार-कूपमें पड़े हुए, विषय-वासनाओंसे नष्ट-दृष्टि और कालरूपी सर्पसे डसे हुए इस आत्मा (जीव) की रक्षा परमात्माको छोड़कर और कौन कर सकता है ?

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात् ।
अप्रमत्त इदं पश्येद्ग्रस्तं कालाहिना जगत् ॥४२॥

जिस समय जीव सम्पूर्ण विषयोंसे उपरत हो जाता है उस समय यह स्वयं ही अपना रक्षक हो जाता है । अतः प्रमादरहित होकर इस जगत्को निरन्तर कालरूपी सर्पसे ग्रस्त हुआ देखे ।

ब्राह्मण[1] उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम् ।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा ॥४३॥

अवधूत बोले—हे राजन् ! पिङ्गला वेश्या इस प्रकार निश्चय करके कान्ताभिलाषाजनित दुराशाको छोड़कर, शान्त भावमें स्थित हो अपनी शय्यापर सो गयी ।

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम् ।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला ॥४४॥

आशा ही परम दुःख है और निराशा (निरपेक्षता) ही परम सुख है; क्योंकि देखो, पिङ्गला कान्तकी आशा छोड़ देनेपर सुखपूर्वक सो गयी ।



इति श्रीमद्भागवते एकादशस्कन्धे अष्टमोऽध्यायः ॥८॥



१. प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

नवाँ अध्याय

अवधूतोपाख्यानकी समाप्ति

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद्विद्वान्यस्त्वकिञ्चनः ॥ १ ॥

अवधूत बोले—[हे राजन् ! मैंने कुररपक्षीसे यह सीखा है कि] मनुष्योंको जो-जो वस्तुएँ अत्यन्त प्यारी हैं उनका सञ्चय करना ही उनके दुःखका कारण है । ऐसा जानकर जो अकिञ्चन भावसे रहता है [अर्थात् कुछ भी संग्रह नहीं करता] वह असीम सुख पाता है ।

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः ।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत ॥ २ ॥

एक कुरर पक्षीको जो अपनी चोंचमें मांस लिये हुए था बिना मांसवाले दूसरे बलवान् पक्षियोंने बहुत मारा, तब उसने उस मांसको छोड़कर ही शान्ति प्राप्त की ।

न मे मानावमानौ[1] स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम् ।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह[2] बालवत् ॥ ३ ॥

[मैंने बालकसे जो शिक्षा ली है उसके कारण] मुझको मान या अपमानका कुछ विचार नहीं है और न घर या परिवार-की ही कोई चिन्ता है; मैं तो अपने आत्मामें ही क्रीड़ा करता हुआ

---

१. पा०—'मानापमानौ' । २. पा०—'आत्मरतो विचरामि' ।

और आत्मामें ही मग्न हुआ बालकके समान निःशंक विचरता हूँ।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः ॥ ४ ॥

संसारमें दो प्रकारके व्यक्ति ही चिन्तासे रहित और परमानन्दपूर्ण होते हैं। एक तो भोला-भाला निश्चेष्ट बालक और दूसरा जो गुणातीत हो गया हो।

क्वचित्कुमारी त्वात्मानं वृणानान्गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयामास क्वापि यातेषु बन्धुषु ॥ ५ ॥

[मैंने कुमारीसे जो सीखा है वह सुनो—] एक बार एक कुमारी कन्याने अपने बन्धु-बान्धवोंके कहीं बाहर चले जानेके कारण अपनेको वरण करनेके लिये घर आये हुए लोगोंका आतिथ्य स्वयं ही किया।

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन्रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शंखाः स्वनं महत् ॥ ६ ॥

हे राजन्! उनको भोजन करानेके लिये जब वह कोठेके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी तो उसकी शंखकी चूड़ियाँ बड़ा शब्द करने लगीं।

सा तज्जुगुप्सितं[1] मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शंखान्द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत् ॥ ७ ॥

१. पा०—'तम्'।

उस शब्दको निन्दाजनक समझकर वह बड़ी लज्जित हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं, दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं ।

उभयोरप्यभूद्घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शंखयोः ।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद्ध्वनिः ॥ ८ ॥

धान कूटनेपर उन दो-दोसे भी शब्द होने लगा, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ डाली । फिर एक-एक चूड़ीसे शब्द नहीं हुआ ।

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम ।
लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया[1] ॥ ९ ॥
वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि ।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कङ्कणः ॥१०॥

हे अरिमर्दन ! लोकतत्त्वकी जिज्ञासासे पृथिवीपर विचरते हुए मैंने उससे यह शिक्षा ली कि बहुत लोगोंके एक साथ रहनेसे तो कलह होता है और दोके भी एकत्र रहनेसे आपसमें बातचीत तो होती ही है । अतः कुमारीकी चूड़ीके समान अकेला ही विचरे ।

मन एकत्र संयुज्याज्जितश्वासो जितासनः ।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः ॥११॥

[मैंने बाण बनानेवालेसे यह शिक्षा ली है कि] वैराग्य और अभ्यासके द्वारा निरालस्य भावसे आसन और श्वासको जीतकर

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था ।

१. पा०—'लोकतत्त्वं विवित्सया' ।

अपने वशमें किये हुए चित्तको एक ही लक्ष्य (परमात्मा) में लगा दे।

यस्मिन्मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम् ॥१२॥

उस परमानन्दरूप परम पदमें स्थित हुआ यह मन धीरे-धीरे कर्मरूपी धूलिको छोड़ देता है और फिर सत्त्वगुणके उद्रेकसे रज और तमको त्यागकर यह इन्धनरहित अग्निके समान शान्त हो जाता है।

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद्बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे ॥१३॥

इस प्रकार आत्मामें चित्तका निरोध हो जानेपर इसे बाहर-भीतर कहीं भी किसी पदार्थका भान नहीं होता। जिस प्रकार कि एक बाण बनानेवालेने बाण बनानेमें लगे रहनेके कारण पासहीसे होकर गयी हुई राजाकी सवारीको नहीं देखा था।

एकाचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः ॥१४॥

[मैंने सर्पसे जो सीखा है, सो सुनो—] मुनिको चाहिये कि सर्पकी भाँति अकेला विचरे, किसी एक स्थानमें न रहे,

प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाह्य आचारोंसे अपनेको छिपाये रक्खे तथा निराश्रय और अल्पभाषी हो ।

गृहारम्भो हि दुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१५॥

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखका ही कारण है । देखो, सर्प भी तो दूसरोंके घरोंमें रहकर सुखपूर्वक बढ़ता रहता है ।

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया ।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः ॥१६॥
एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः ।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु ।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः[1] ॥१७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः ।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः ॥१८॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम् ।
संक्षोभयन्सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम ॥१९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं[2] सृजन्तीं विश्वतोमुखम् ।
यस्मिन्प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान् ॥२०॥

[मैंने मकड़ीसे जो सीखा है सो सुनो—] पूर्वकालमें अपनी मायासे रचे हुए इस जगत्को, कल्पका अन्त होनेपर, एकमात्र ईश्वर श्रीनारायणदेव ही कालरूपसे लय करके

१. पा०—'प्रधानः पुरुषेश्वरः' । २. पा०—'त्रिगुणां व्यक्तिम्' ।

आत्माधार और सर्वाधिष्ठानरूपसे अकेले ही रह जाते हैं। अपने ही शक्तिरूप कालके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके साम्यावस्थाको प्राप्त हो जानेपर, प्रधान और पुरुषके नियन्ता, समस्त परावर (अलौकिक एवं लौकिक) प्रपञ्चके परम कारण वे आदिपुरुष कैवल्यरूपसे रह जाते हैं। हे शत्रुदमन ! फिर वे विशुद्धविज्ञानानन्दघन, निरुपाधिक भगवान् ही केवल अपनी शक्ति [काल] के द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करके पहिले [क्रियाशक्तिप्रधान] सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। नाना प्रकारकी सृष्टि रचनेवाले उस सूत्रको गुणत्रयका कार्य कहते हैं, जिसमें कि यह सम्पूर्ण विश्व ओतप्रोत है तथा जिसके कारण जीवका आवागमन होता है।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां संतत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः ॥२१॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा जाला फैलाकर उसमें विहार करनेके उपरान्त उसको निगल लेती है उसी प्रकार परमात्मा भी स्वयं अपनेमेंसे ही इस प्रपञ्चको फैलाकर फिर अपनेमें ही उसका लय कर लेते हैं।

यत्र यत्र मनो देही धारयेत्सकलं धिया।
स्नेहाद्द्वेषाद्भयाद्वापि याति तत्तत्सरूपताम् ॥२२॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन्कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्साम्यतां राजन्पूर्वरूपमसन्त्यजन्[1] ॥२३॥

[मैंने भृंगी कीड़ेसे यह सीखा है कि] देहधारी जीव स्नेहसे,

1. पा०—'अपि त्यजन्'।

द्वेषसे अथवा भयसे जिस किसीमें भी सम्पूर्ण रूपसे अपने चित्तको लगा देता है अन्तमें वह तद्रूप हो जाता है; जिस प्रकार भृंगी कीटद्वारा अपने बिलमें बन्द किया हुआ कीड़ा भयसे उसीका ध्यान करते-करते अन्तमें अपने पूर्व रूपको न छोड़ता हुआ भी उसीके समान रूपवाला हो जाता है।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो ॥२४॥

हे राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ऐसी-ऐसी शिक्षाएँ ली हैं; अब अपने शरीरसे मैंने जो शिक्षा ली है वह कहता हूँ, सुनो—

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
बिंभ्रत्स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः ॥२५॥

मेरे विवेक और वैराग्यका हेतु यह शरीर भी मेरा गुरु है; उत्पत्ति और नाश ही इसके धर्म हैं तथा निरन्तर दीनता ही इसका फल है। यद्यपि मैं इससे तत्त्वचिन्तन करता हूँ, तो भी मेरा यह निश्चय है कि यह पराया (स्यार, कुत्ते आदिका भक्ष्य) है। इससे मैं असंग होकर विचरता हूँ।

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षितमाचितन्वन्[1]।

---

१. पा०—'यत्प्रियचिकीर्षया वितन्वन्'।

स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा ॥२६॥

जिनकी प्रिय कामनाओंका विस्तार यानी संग्रह करनेवाला यह पुरुष उन स्त्री, पुत्र, धन, पशु, सेवक, गृह और अपने कुटुम्बियोंका पोषण करता है, अन्त समय वह देह इसको छोड़ देता है और वृक्षके-से स्वभाववाला होनेसे [दुःखोंके आश्रयभूत] अन्य देहके लिये [कर्मरूपी] बीज बोकर नाशको प्राप्त हो जाता है।

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥२७॥

जिस प्रकार बहुत-सी सपत्नियाँ (सौतें) गृहस्वामीको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं उसी प्रकार जीवकी कर्मशक्तियाँ उसे पीडित करती रहती हैं। कभी तो इसे रसलोलुपा रसना खींचती है, कहीं दूसरी ओर शिश्न, त्वचा, उदर और श्रवणेन्द्रिय खींचने लगती हैं और कहीं घ्राण एवं चञ्चल नेत्र दूसरी ही ओर खींचते हैं।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान्सरीसृपपशून्खगदंशमत्स्यान्[1]।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥२८॥

१. पा०—'खगदन्दशूकान्'।

भगवान्‌ने अपनी अजेय मायाशक्तिसे वृक्ष, सरीसृप, पशु, पक्षी, डाँस और मत्स्य आदि नाना प्रकारकी योनियाँ रचनेपर उनसे सन्तुष्ट न होकर जब ब्रह्मदर्शनकी योग्यतावाले इस पुरुष-शरीरको रचा तभी प्रसन्नता प्राप्त की। [अतः यह मनुष्य-देह ही सर्वश्रेष्ठ है।]

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः ।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु[1] याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात् ॥२९॥

यह मनुष्य-देह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है। अतः अनेक जन्मोंके उपरान्त इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे तबतक शीघ्र ही अपने निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्तिके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं [इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको न खोवे]।

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि ।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहंकृतिः[2] ॥ ३० ॥

इस प्रकार हृदयमें वैराग्ययुक्त तथा ज्ञानालोकसे प्रकाशित हो मैं निरहंकार और निःसंग होकर इस भूमण्डलपर [स्वच्छन्द] विचरता हूँ।

---

१. पा०—'मृत्युयोगात्'।
२. पा०—'अनहङ्कृतः'।

न ह्येकस्माद्गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं[1] स्यात्सुपुष्कलम् ।
ब्रह्मैतदद्वितीयं हि[2] गीयते बहुधर्षिभिः ॥ ३१ ॥

अकेले गुरुहीसे यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं हो सकता [उसके लिये स्वयं भी विचार करनेकी आवश्यकता है] । देखो, एक ही अद्वितीय ब्रह्मका ऋषियोंने नाना प्रकारसे निरूपण किया है ।

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः ।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम् ॥३२॥

श्रीभगवान् कहते हैं—हे उद्धव ! वे गम्भीरबुद्धि ब्राह्मणश्रेष्ठ इस प्रकार यदुको उपदेश कर, उनसे विदा हो, उनके प्रणाम तथा पूजा आदि करनेपर प्रसन्न चित्तसे इच्छानुसार चले गये ।

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः ।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह ॥३३॥

इस प्रकार हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूतके उपदेशको सुनकर सर्वथा निःसंग होकर समदर्शी हो गये ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादश-
स्कन्धे नवमोऽध्यायः ॥९॥



१. पा०—'सुस्थितम्' । २. पा०—'वै' ।



दशवाँ अध्याय

संसारका मिथ्यात्वनिरूपण

श्रीभगवानुवाच

मयोदितेष्ववहितः स्वधर्मेषु मदाश्रयः ।
वर्णाश्रमकुलाचारमकामात्मा समाचरेत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरे कहे हुए अपने-अपने धर्मोंमें सावधान रहकर और मेरे ही आश्रित होकर अपने वर्ण, आश्रम और कुलके आचारोंका निष्काम बुद्धिसे आचरण करे ।

अन्वीक्षेत विशुद्धात्मा देहिनां विषयात्मनाम् ।
गुणेषु तत्त्वध्यानेन सर्वारम्भविपर्ययम् ॥ २ ॥

स्वधर्मानुष्ठानसे शुद्धचित्त होकर यह देखे कि विषयलोलुप पुरुष जिन त्रिगुणमय कर्मोंको सत्य मानकर करते हैं उन सबका परिणाम विपरीत ही होता है ।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः ।
नानात्मकत्वाद्विफलस्तथा भेदात्मधीर्गुणैः ॥ ३ ॥

सोये हुए पुरुषको [स्वप्नावस्थामें] दिखायी देनेवाले पदार्थ तथा चिन्तन करनेवालेके मनोरथ जैसे नानारूप होनेसे मिथ्या होते हैं उसी प्रकार त्रिगुणात्मिका भेद-बुद्धि भी मिथ्या ही है ।

निवृत्तं कर्म सेवेत प्रवृत्तं मत्परस्त्यजेत् ।
जिज्ञासायां संप्रवृत्तो नाद्रियेत्कर्मचोदनाम् ॥ ४ ॥

मेरे परायण हुआ पुरुष निवृत्तिके लिये केवल नित्यनैमित्तिक

कर्म ही करे, प्रवृत्तिजनक काम्य कर्मोंको छोड़ दे और जिस समय आत्म-जिज्ञासा जाग्रत हो उस समय कर्म-विधिकी परवा न करे ।

यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित् ।
मदभिज्ञं गुरुं शान्तमुपासीत मदात्मकम् ॥ ५ ॥

मेरा भक्त [सत्य, अहिंसा आदि] यमोंका निरन्तर सेवन करे और [शौच, सन्तोष आदि] नियमोंका भी समयानुसार पालन करे तथा मेरे स्वरूपके जाननेवाले, शान्त और साक्षात् मेरे ही स्वरूप गुरुदेवकी सदा प्रेम और श्रद्धासे उपासना करे ।

अमान्यमत्सरो दक्षो निर्ममो दृढसौहृदः ।
असत्वरोऽर्थजिज्ञासुरनसूयुरमोघवाक् ॥ ६ ॥

[उसे चाहिये कि] मान और मत्सरसे रहित, कार्यकुशल, ममताशून्य, दृढप्रेमी, व्यग्रतासे रहित तथा आत्मतत्त्वका जिज्ञासु हो और परनिन्दा एवं व्यर्थ वचनसे दूर रहे ।

जायापत्यगृहक्षेत्रस्वजनद्रविणादिषु ।
उदासीनः समं पश्यन्सर्वेष्वर्थमिवात्मनः ॥ ७ ॥

अपने परम धनरूप आत्माको सर्वत्र देखता हुआ समदर्शी होकर स्त्री, पुत्र, गृह, भूमि, स्वजन और धन आदिमें अनासक्त एवं ममताहीन होकर रहे ।

विलक्षणः स्थूलसूक्ष्माद्देहादात्मेक्षिता स्वदृक् ।
यथाग्निर्दारुणो दाह्याद्दाहकोऽन्यः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार दाह्य काष्ठसे उसका दाहक और प्रकाशक अग्नि पृथक् होता है उसी प्रकार [दृश्यरूप] स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरसे उनका साक्षी स्वयंप्रकाश आत्मा विलक्षण (अत्यन्त भिन्न) है।

निरोधोत्पत्त्यणुबृहन्नानात्वं तत्कृतान्गुणान् ।
अन्तः प्रविष्ट आधत्त एवं देहगुणान्परः ॥ ९ ॥

काष्ठमें प्रविष्ट हुआ अग्नि जैसे ध्वंस, उत्पत्ति, सूक्ष्मता, महत्ता एवं अनेकता आदि काष्ठके गुणोंको ग्रहण कर लेता है वैसे ही जन्म-मरण आदि देहके धर्मोंको आत्मा ग्रहण कर लेता है; [वास्तवमें वे धर्म उसके नहीं हैं] ।

योऽसौ गुणैर्विरचितो देहोऽयं पुरुषस्य हि ।
संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्चिदात्मनः ॥१०॥

चेतनस्वरूप पुरुषका जो यह सत्त्वादि गुणोंसे बना हुआ शरीर है, इस जन्म-मरणरूप संसारको उसीके निमित्तसे समझना चाहिये ।

तस्माज्जिज्ञासयात्मानमात्मस्थं केवलं परम् ।
संगम्य निरसेदेतद्वस्तुबुद्धिं यथाक्रमम् ॥११॥

इसलिये जिज्ञासापूर्वक अपने अन्तःकरणमें स्थित उस अद्वितीय परमात्माको जानकर क्रमशः [अन्य पदार्थोंमें हुई] इस सत्यत्व-बुद्धिको त्याग दे ।

आचार्योऽरणिराद्यः स्यादन्तेवास्युत्तरारणिः ।
तत्सन्धानं प्रवचनं विद्यासन्धिः सुखावहः ॥१२॥

आचार्य नीचेकी अरणि है, शिष्य ऊपरकी और उपदेश मध्यका मन्थन-काष्ठ है, तथा सुखप्रद ब्रह्मविद्या उनकी सन्धि है।

वैशारदी[1] सातिविशुद्धबुद्धि-
धुनोति मायां गुणसंप्रसूताम्।
गुणांश्च संदह्य यदात्ममेत-
त्स्वयं च शाम्यत्यसमिद्यथाग्निः ॥१३॥

वह [ब्रह्मविद्यारूप] अति निपुण और विशुद्ध बुद्धि गुणोंसे उत्पन्न हुई मायाका ध्वंस कर देती है, और फिर इस संसारके कारणरूप गुणोंका नाश करके इन्धनरहित अग्निके समान स्वयं भी शान्त हो जाती है।

अथैषां कर्मकर्तॄणां भोक्तॄणां सुखदुःखयोः।
नानात्वमथ नित्यत्वं लोककालागमात्मनाम् ॥१४॥
मन्यसे सर्वभावानां संस्था ह्यौत्पत्तिकी यथा।
तत्तदाकृतिभेदेन जायते भिद्यते च धीः ॥१५॥
एवमप्यङ्ग सर्वेषां देहिनां देहयोगतः।
कालावयवतः सन्ति भावा जन्मादयोऽसकृत् ॥१६॥
अत्रापि कर्मणां कर्तुरस्वातन्त्र्यं च लक्ष्यते।
भोक्तुश्च दुःखसुखयोः कोऽन्वर्थो विवशं भजेत् ॥१७॥

हे उद्धव ! यदि [जैमिनि आदि मुनियोंके मतानुसार] तुम कर्मोंके कर्ता और सुख-दुःखरूप फलोंके भोक्ता इन जीवोंका नानात्व तथा स्वर्गादि लोक, काल, कर्म-प्रतिपादक शास्त्र और

१. पा०—'विशारदी'।

आत्मा (जीव) की नित्यता स्वीकार करते हो; समस्त पदार्थोंकी स्थिति प्रवाहरूपसे नित्य और यथार्थ मानते हो अथवा [विज्ञान-वादियोंके कथनानुसार] यह समझते हो कि घट, पट आदि बाह्य आकृतियोंके भेदसे उनके अनुसार बुद्धि ही उत्पन्न होती और बदलती रहती है, तो हे प्रिय ! इस प्रकार भी शरीर और संवत्सरादि कालावयवोंके सम्बन्धसे सम्पूर्ण देहधारियोंके जन्म, मरण आदि भाव निरन्तर होते रहने सिद्ध होते हैं और कर्मोंके कर्ता तथा सुख-दुःखादिके भोक्ता जीवकी पराधीनता यहाँ भी लक्षित होती है, तो फिर उस परवश जीवको लाभ ही क्या हो सकता है ?

न देहिनां सुखं किञ्चिद्विद्यते विदुषामपि ।
तथा च दुःखं मूढानां वृथाहंकरणं परम् ॥१८॥
यदि प्राप्तिं विघातं च जानन्ति सुखदुःखयोः ।
तेऽप्यद्धा न विदुर्योगं मृत्युर्न प्रभवेद्यथा ॥१९॥

[यदि कहो कि जो कर्मकुशल नहीं हैं उन्हें ही दुःख होता है तो ऐसा भी कोई नियम नहीं है क्योंकि] कर्मकुशल विद्वानोंको भी कुछ सुख नहीं होता और मूर्खको सदा दुःख ही नहीं भोगना पड़ता । [हम कर्मकुशल होनेसे सुखी हैं—यह] व्यर्थ अभिमान ही है । यदि सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके उपायका ज्ञान हो भी गया तो भी अभी उस उपायको तो समझा ही नहीं है जिससे कि फिर मरना ही न पड़े ।

को न्वर्थः[1] सुखयत्येनं कामो वा मृत्युरन्तिके ।
आघातं नीयमानस्य वध्यस्येव न तुष्टिदः ॥२०॥

---

१. पा०—'किन्त्वर्थः' ।

जिस प्रकार वध-स्थानपर ले जाये जाते हुए वध्य पशुको कोई भी पदार्थ सुखी नहीं कर सकता उसी प्रकार जिसकी मृत्यु समीप है, उसे कौन-सी सुख-सामग्री अथवा काम्य वस्तु प्रसन्न कर सकती है ?

श्रुतं च दृष्टवद्दुष्टं स्पर्धासूयात्ययव्ययैः ।
बह्वन्तरायकामत्वात्कृषिवच्चापि निष्फलम् ॥२१॥

दृष्ट (लौकिक) सुखकी भाँति श्रुत (स्वर्गादिका) सुख भी परस्परकी स्पर्धा, असूया, नाश और क्षय आदिके कारण दोषयुक्त ही है तथा नाना प्रकारके विघ्न और कामनाओंके कारण भी कृषिके समान निष्फल है ।

अन्तरायैरविहतो यदि धर्मः स्वनुष्ठितः ।
तेनापि निर्जितं स्थानं यथा गच्छति तच्छृणु ॥२२॥

यदि विघ्नोंके न आनेसे कोई धार्मिक कृत्य (यज्ञादि) सम्पन्न हो जाता है तो उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक-को भी जीव जिस प्रकार जाता है, वह सुनो—

इष्ट्वेह देवता यज्ञैः स्वर्लोकं याति याज्ञिकः ।
भुञ्जीत देववत्तत्र भोगान्दिव्यान्निजार्जितान् ॥२३॥

यज्ञोंके द्वारा देवताओंका यजन करके याजक स्वर्गलोकको जाता है और वहाँ अपने पुण्य-कर्मसे उपार्जित दिव्य भोगोंको देवताओंके समान भोगता है ।

स्वपुण्योपचिते शुभ्रे विमान उपगीयते ।
गन्धर्वैर्विहरन्मध्ये देवीनां[1] हृद्यवेषधृक् ॥२४॥

---

१. पा०—'देवानाम्' ।

अपने पुण्योंके द्वारा प्राप्त हुए शुभ्र विमानपर आरूढ़ हुआ वह मनोहर वेषधारी पुरुष सुर-सुन्दरियोंके साथ विहार करता है तथा गन्धर्वगण उसका गुणगान करते हैं।

स्त्रीभिः कामगयानेन किङ्किणीजालमालिना।
क्रीडन्न वेदात्मपातं सुराक्रीडेषु निर्वृतः ॥२५॥

उस समय किंकिणी-जालसे सुशोभित और इच्छानुसार गमन करनेवाले विमानपर चढ़कर वह देवताओंके विहारस्थल नन्दनादि उपवनोंमें अप्सराओंके साथ क्रीड़ा करता हुआ एक दिन अवश्य होनेवाले अपने पतनको नहीं जानता।

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन्कालचालितः ॥२६॥

जबतक पुण्य शेष रहता है तबतक वह स्वर्गलोकमें सुख-भोग करता रहता है। पुण्य क्षीण होते ही, इच्छा न रहते हुए भी वह कालकी प्रेरणासे तुरन्त नीचे गिर जाता है।

यद्यधर्मरतः सङ्गादसतां वाजितेन्द्रियः।
कामात्मा कृपणो लुब्धः स्त्रैणो भूतविहिंसकः ॥२७॥
पशूनविधिनालभ्य प्रेतभूतगणान्यजन्।
नरकानवशो जन्तुर्गत्वा यात्युल्बणं तमः ॥२८॥

[यह तो कर्मके विधिपूर्वक निर्विघ्न समाप्त हो जानेसे होनेवाली गतिका वर्णन हुआ; किन्तु] यदि कोई जीव कुसंगमें पड़कर अधर्मरत, अजितेन्द्रिय, स्वेच्छाचारी, कृपण, लम्पट, स्त्रैण और प्राणिहिंसक हो जानेसे बिना विधिके ही पशुओंका वध करके

भूत-प्रेत आदिको बलि देता है तो अवश्य ही परवश होकर नरक-में जाता है और अन्तमें घोर अन्धकार (अज्ञान) में पड़ता है।

कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥२९॥

इस शरीरसे, दुःख ही जिनका फल है ऐसे कर्मोंको करता हुआ पुरुष उन कर्मोंके द्वारा पुनः देह धारण करता है। अतः इससे इस मरणधर्मा जीवको क्या सुख मिल सकता है?

लोकानां लोकपालानां मद्भयं कल्पजीविनाम्।
ब्रह्मणोऽपि भयं मत्तो द्विपरार्धपरायुषः ॥३०॥

[केवल मनुष्योंको ही नहीं] लोक और कल्पजीवी लोक-पालोंको भी मेरेसे भय है, तथा जिसकी आयु दो परार्ध है उस ब्रह्माको भी [कालरूप] मुझसे भय लगा रहता है।

गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥३१॥

गुणोंसे कर्मोंकी और गुणोंकी साम्यावस्थारूप प्रकृतिसे गुणों-की रचना होती है; जीव तो अज्ञानवश गुणोंमें आसक्त हो जानेसे ही [गुणोंकी प्रेरणासे हुए] कर्मोंके फलोंको भोगता है।

यावत्स्याद्गुणवैषम्यं तावन्नानात्वमात्मनः।
नानात्वमात्मनो यावत्पारतन्त्र्यं तदैव हि ॥३२॥

जबतक (अहंकारादिरूपसे) गुणोंकी विषमावस्था रहती है तभीतक आत्माका नानात्व है; और जबतक आत्माका नानात्व है तभीतक पराधीनता है।

यावदस्यास्वतन्त्रत्वं तावदीश्वरतो भयम् ।
य एतत्समुपासीरंस्ते मुह्यन्ति शुचार्पिताः ॥३३॥

तथा जबतक पराधीनता है तभीतक ईश्वरसे भय है, अतः जो लोग इस कर्मकलापके उपासक हैं वे इसी प्रकार शोकाकुल हुए मोहको प्राप्त होते हैं।

काल आत्मागमो लोकः स्वभावो धर्म एव च ।
इति मां बहुधा प्राहुर्गुणव्यतिकरे सति ॥३४॥

हे उद्धव ! गुणोंका वैषम्य होनेपर काल, जीव, वेद, लोक, स्वभाव और धर्म आदि अनेकों नामोंद्वारा मेरा ही निरूपण किया जाता है।

उद्धव उवाच

गुणेषु वर्तमानोऽपि देहजेष्वनपावृतः ।
गुणैर्न बध्यते देही बध्यते वा कथं विभो ॥३५॥

उद्धवजी बोले—हे विभो ! देहके [कर्म और उसके फलादि] गुणोंमें रहता हुआ भी यह देहधारी जीव कैसे उनके बन्धनमें नहीं पड़ता और यदि [आकाशके समान] अनावृत होनेके कारण गुणोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है तो फिर वह उनमें बँध कैसे जाता है ?

कथं वर्तेत विहरेत्कैर्वा ज्ञायेत लक्षणैः ।
किं भुञ्जीतोत विसृजेच्छयीतासीत याति वा ॥३६॥

इस प्रकार गुणोंसे मुक्त हुआ पुरुष किस प्रकार रहता है,

कैसे विहार करता है? किन लक्षणोंसे जाना जाता है? क्या खाता है? क्या त्यागता है? तथा किस प्रकार सोता, बैठता और चलता है?

एतदच्युत मे ब्रूहि प्रश्नं प्रश्नविदां वर ।
नित्यबद्धो[1] नित्यमुक्त[2] एक एवेति मे भ्रमः ॥३७॥

हे अच्युत! हे प्रश्नका यथार्थ उत्तर देनेवालोंमें श्रेष्ठ! मेरे इन प्रश्नोंका उत्तर दीजिये, और मेरी इस शंकाको कि 'एक ही आत्मा नित्यबद्ध और नित्यमुक्त किस प्रकार है?' निवृत्त कीजिये।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
भगवदुद्धवसंवादे दशमोऽध्यायः ॥१०॥

ग्यारहवाँ अध्याय

बद्ध, मुक्त और भक्तजनोंके लक्षण

श्रीभगवानुवाच

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः ।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! गुणोंके कारण ही मुझे बद्ध या मुक्त कहा जाता है, वस्तुतः नहीं; और गुण मायामूलक हैं; अतः वास्तवमें मेरा न बन्धन है न मोक्ष।

शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च मायया ।
स्वप्नो[3] यथात्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥ २ ॥

---

१. पा०—'नित्यमुक्तः'। २. पा०—'नित्यबद्धः'। ३. पा०—'स्वप्ने'।

शोक, मोह, सुख, दुःख और देहकी उत्पत्ति सब मायाही-के कार्य हैं, और यह संसार भी स्वप्नके समान बुद्धिजनित प्रतीति ही है, यह वास्तविक नहीं है।

विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ॥ ३ ॥

हे उद्धव! देहधारियोंके मोक्ष और बन्धनकी कारणभूता विद्या और अविद्याको भी, मेरी मायासे रची हुई मेरी आद्या शक्तियाँ ही जानो।

एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥ ४ ॥

हे महामते! मेरे अंशरूप एक ही जीवको अविद्यासे अनादि बन्धन और विद्यासे मोक्षकी प्राप्ति हुई है।

अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते।
विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि ॥ ५ ॥

हे तात! अब मैं तुझसे एक ही धर्मीमें स्थित बद्ध और मुक्त इन दो विरुद्ध धर्मवालोंकी [अर्थात् जीव और ईश्वरकी] विलक्षणताका वर्णन करता हूँ।

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥ ६ ॥

ये दोनों पक्षी (बद्ध—जीव और मुक्त—ईश्वर) समान (चेतन-स्वरूप) और सखा (नित्य अवियुक्त) हैं और एक ही वृक्ष

(शरीर) में स्वेच्छासे घोंसला बनाकर रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) तो उसके फलों (सुख-दुःखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ईश्वर) निराहार (कर्म-फलादिसे असंग साक्षीमात्र) रहकर भी बल (ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्यादि) में पहिलेसे अधिक है।

आत्मानमन्यं च स वेद विद्वा-
नपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो
विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

जो निराहार है वह (ईश्वर) तो अपनेको और अपनेसे भिन्न प्रपञ्चादिको जानता है, किन्तु जो कर्मफलरूप पिप्पलान्नका भोक्ता है वह (जीव) नहीं जानता। इनमें जो अविद्यायुक्त (जीव) है वही नित्यबद्ध है और जो ज्ञाता (ईश्वर) है वही नित्यमुक्त है।

देहस्थोऽपि न देहस्थो विद्वान्स्वप्नाद्यथोत्थितः।
अदेहस्थोऽपि देहस्थः कुमतिः स्वप्नदृग्यथा ॥ ८ ॥

स्वप्नावस्थासे उठे हुए व्यक्तिके समान विद्वान् देहस्थ होकर भी (देहाभिमान न होनेके कारण) देहस्थ नहीं होता और अज्ञानी स्वप्नद्रष्टाके समान देहस्थ न होकर भी देहस्थ रहता है; [तथा देहका अभिमान करके देहजनित नाना आपत्तियोंको भोगता है]।

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च।
गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान्यस्त्वविक्रियः ॥ ९ ॥

अतः इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके तथा गुणोंके द्वारा गुणोंके गृहीत होनेपर भी विद्वान् कभी अहङ्कार नहीं करता [अर्थात् यह नहीं मानता कि मैं उनको ग्रहण करता हूँ] क्योंकि वह तो सर्वदा अविकारी है ।

देवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा ।
वर्तमानोऽबुधस्तत्र कर्तास्मीति निबध्यते ॥१०॥

अज्ञानी पुरुष इस दैवाधीन शरीरके द्वारा गुणोंकी प्रेरणासे होते हुए कर्मोंमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी भावना करके बँध जाता है ।

एवं विरक्तः शयन आसनाटनमज्जने ।
दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु ॥११॥
न तथा बध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान् ।
प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः ॥१२॥
वैशारद्येक्षयासङ्गशितया छिन्नसंशयः ।
प्रतिबुद्ध इव स्वप्नान्नानात्वाद्विनिवर्तते ॥१३॥

इस प्रकार विवेकी पुरुष विरक्त रहकर सोने, बैठने, घूमने-फिरने, स्नान करने, देखने, छूने, सूँघने, भोजन करने और सुनने आदिमें गुणोंको ही कर्ता माननेसे बन्धनमें नहीं पड़ता; प्रत्युत प्रकृतिस्थ रहकर भी आकाश, सूर्य और वायुके समान असङ्ग ही रहता है । तथा असङ्ग-भावनासे तीक्ष्ण की हुई अपनी विमल बुद्धिसे समस्त संशयोंको काटकर स्वप्नसे जगे हुए पुरुषके समान नानात्वके भ्रमसे निवृत्त हो जाता है ।

यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम् ।
वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः ॥१४॥

जिसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ सङ्कल्प-शून्य होती हैं, वह देहमें स्थित रहकर भी उसके गुणोंसे मुक्त है ।

यस्यात्मा हिंस्यते हिंस्रैर्येन किञ्चिद्यदृच्छया ।
अर्च्यते वा क्वचित्तत्र न व्यतिक्रियते बुधः ॥१५॥

जिसके शरीरको चाहे हिंसकलोग पीड़ा पहुँचावें और चाहे कभी कोई दैवयोगसे पूजनादि करने लगे, फिर भी वह विद्वान् किसी प्रकार विकृत नहीं होता ।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः ॥१६॥

गुण-दोषसे रहित समदर्शी मुनिको उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति ही करे और न निन्दा ही ।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥१७॥

मुनिको चाहिये कि किसी प्रकारका भला या बुरा कर्म न करे, न कुछ भला या बुरा कहे और न चित्तमें ही विचारे । ऐसी वृत्तिका अवलम्बन कर केवल आत्मामें ही रमण करता हुआ जडके समान विचरे ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि ।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥१८॥

१. पा०—'स तु मुक्तो वै' । २. पा०—'यदा' ।

जो पुरुष शब्द-ब्रह्म (वेद) का पारङ्गत होकर भी परब्रह्ममें परिनिष्ठित नहीं हुआ, [अर्थात् समाधि आदिके द्वारा जिसने परमात्माका अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं किया] उसे दुग्धहीना गौको पालनेवालेके समान अपने श्रमके फलमें केवल परिश्रम ही हाथ लगता है ।

गां दुग्धदोहामसतीं च भार्यां
देहं पराधीनमसत्प्रजां च ।
वित्तं त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं
हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥१९॥

हे प्रिय ! दूध देनेमें असमर्थ गौ, कुल्टा स्त्री, पराधीन शरीर, असत् (वर्णसङ्कर) सन्तान, पापमय धन तथा मेरे गुणानुवादसे शून्य वाणीकी रक्षा तो दुःख-पर-दुःख उठानेवाला व्यक्ति ही करता है । [अर्थात् जो इनकी रक्षा करता है वह निरन्तर दुःखी रहता है] ।

यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म
स्थित्युद्भवप्राणनिरोधमस्य ।
लीलावतारेप्सितजन्म वा स्या-
द्वन्ध्यां गिरं तां बिभृयान्न धीरः ॥२०॥

हे उद्धव ! जिसमें संसारके उत्पत्ति, स्थिति, गति एवं संहाररूप मेरे पवित्र कर्मोंका अथवा मेरे लीलावतारोंमें स्वेच्छासे धारण किये हुए जन्मोंका वर्णन न हो, उस व्यर्थ वाणीको धीर पुरुष कभी आश्रय न दे ।

एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि ।
उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥२१॥

इस प्रकार आत्म-जिज्ञासासे भेद-भ्रमका उच्छेद करके अपने निर्मल चित्तको मुझ सर्वव्यापी परमात्मामें समर्पण कर [समस्त लौकिक-वैदिक कर्मोंसे] उपरत हो जाय ।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् ।
मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥२२॥

यदि तुम मनको परब्रह्ममें निश्चलतापूर्वक स्थिर करनेमें असमर्थ हो तो निरपेक्ष होकर सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति मेरे ही लिये करो ।

श्रद्धालुर्मे कथाः[1] शृण्वन्सुभद्रा[2] लोकपावनीः[3] ।
गायन्ननुस्मरन्कर्म जन्म चाभिनयन्मुहुः ॥२३॥
मदर्थे धर्मकामार्थानाचरन्मदपाश्रयः ।
लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥२४॥

हे उद्धव ! श्रद्धालु पुरुष लोकोंको पवित्र करनेवाली मेरी अति कल्याणकारिणी कथाको सुनने, मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंका गान, स्मरण और बारंबार अभिनय करने तथा मेरे आश्रित रहकर अर्थ, धर्म और कामरूप त्रिवर्गका मेरे लिये ही आचरण करनेसे मुझ सनातन परमात्मामें निश्चल भक्ति प्राप्त कर लेता है ।

सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासिता ।
स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदम् ॥२५॥

सत्संगद्वारा प्राप्त की हुई मेरी भक्तिके द्वारा वह मेरा उपासक हो जाता है । और वह सत्पुरुषोंद्वारा दिखलाये हुए मेरे परम पदको सुगमतासे प्राप्त कर लेता है ।

१. पा०—'कथाम्' । २. पा०—'सुभद्राम्' । ३. पा०—'लोकपावनीम्' ।

उद्धव उवाच

साधुस्तवोत्तमश्लोक मतः कीदृग्विधः[1] प्रभो ।
भक्तिस्त्वय्युपयुज्येत[2] कीदृशी सद्भिरादृता ॥२६॥

उद्धवजी बोले—हे उत्तम कीर्तिशाली प्रभो ! आपकी सम्मतिमें साधु किसको कहना चाहिये ? और साधुजन जिसका आदर करते हैं ऐसी आपके प्रति भक्ति किस प्रकारकी की जाय ?

एतन्मे[3] पुरुषाध्यक्ष लोकाध्यक्ष जगत्प्रभो ।
प्रणतायानुरक्ताय[4] प्रपन्नाय च कथ्यताम् ॥२७॥

हे पुरुषाध्यक्ष ! हे लोकेश्वर ! हे जगत्पते ! मुझ विनीत अनुरक्त और शरणागत भक्तसे यह सब वर्णन कीजिये ।

त्वं ब्रह्म परमं व्योम पुरुषः प्रकृतेः परः ।
अवतीर्णोऽसि भगवन्स्वेच्छोपात्तपृथग्वपुः ॥२८॥

हे प्रभो ! आप परब्रह्म, चिदाकाशस्वरूप तथा प्रकृतिसे परे पुरुषरूप हैं । हे भगवन् ! आप अपनी इच्छासे ही यह पृथक् शरीर धारणकर अवतीर्ण हुए हैं ।

श्रीभगवानुवाच

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥२९॥

---

१. पा०—'कीदृग्विधा विभो' । २. पा०—'त्वयि प्रयुज्येते' ।

३. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'एतन्मे पुरुषेशाद्य प्रपन्नाय च कथ्यताम्' । ४. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥३०॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो समस्त देहधारियोंपर कृपा करता है, किसीसे वैर-भाव नहीं रखता, तथा प्रतिहिंसासे शून्य है, सत्यशील, शुद्धचित्त, समदर्शी और सबका हितकारी है, जिसकी बुद्धि कामनाओंसे शून्य है, जो संयमी, मृदुलस्वभाव, सदाचारी और अकिञ्चन है, जो निःस्पृह, मिताहारी, शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि, मेरा शरणागत, आत्मतत्त्वका मनन करनेवाला, प्रमाद-रहित, गम्भीर स्वभाववाला और धैर्यवान् है, जो देहके छः धर्मों (क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जन्म और मरण) को जीत चुका है, स्वयं मानकी इच्छा नहीं करता तथापि औरोंका मान करनेवाला है तथा समर्थ, मिलनसार, करुणामय और सम्यक् ज्ञानयुक्त है[—मेरी सम्मतिमें वह (इन २८ लक्षणोंवाला पुरुष) ही श्रेष्ठ साधु है] ।

आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥३२॥

[वेदरूप] मेरे द्वारा उपदेश किये गये अपने वर्णाश्रमादि धर्मोंके [पालनमें] गुण और [त्यागमें] दोष जानकर भी जो मेरे लिये उनकी उपेक्षा करके मुझे भजता है वह साधुओंमें श्रेष्ठ है ।

ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥३३॥

'मैं जो हूँ, जितना हूँ, और जैसा हूँ', इस बातको जानते अथवा न जानते हुए भी जो अनन्यभावसे मेरा भजन करते हैं, मेरी सम्मतिमें वे ही मेरे परम भक्त हैं।

मल्लिङ्गमद्भक्तजनदर्शनस्पर्शनार्चनम् ।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्तनम् ॥३४॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव ।
सर्वलाभोपहरणं दास्येनात्मनिवेदनम् ॥३५॥
मज्जन्मकर्मकथनं मम पर्वानुमोदनम् ।
गीतताण्डववादित्रगोष्ठीभिर्मद्गृहोत्सवः ॥३६॥
यात्रा बलिविधानं च सर्ववार्षिकपर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीयव्रतधारणम् ॥३७॥
ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहत्य चोद्यमः ।
उद्यानोपवनाक्रीडपुरमन्दिरकर्मणि ॥३८॥
संमार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥३९॥
अमानित्वमदम्भित्वं कृतस्यापरिकीर्तनम् ।
अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम् ॥४०॥

मेरी प्रतिमा तथा मेरे भक्तजनोंके दर्शन, स्पर्श और पूजन, सेवा-शुश्रूषा, स्तुति तथा विनीत-भावसे गुण और कर्मोंका कीर्तन करना, मेरी कथा सुननेमें श्रद्धा रखना, मेरा ध्यान करना, जो कुछ प्राप्त हो मुझे निवेदन कर देना, दास्य-भावसे आत्मसमर्पण करना, मेरे दिव्य जन्म और कर्मोंको कहना-सुनना, मेरे पर्वदिनों-को मनाना, गान, नृत्य, वाद्य और भक्तसमाजके साथ मेरे मन्दिरों-

में उत्सव करना, समस्त वार्षिक पर्वतिथियोंपर मेरे स्थानोंकी यात्रा और पूजनादि करना, वैदिकी अथवा तान्त्रिकी दीक्षा लेना, मेरे व्रत रखना, मेरी प्रतिमादिकी प्रतिष्ठामें श्रद्धा रखना, उद्यान (पुष्पवाटिका), उपवन (बगीचा), क्रीडागृह और मन्दिर आदिके निर्माणमें स्वतः अथवा औरोंके साथ मिलकर प्रयत्न करना, निष्कपट-भावसे दासके समान मेरे मन्दिरोंका मार्जन-लेपन, जल-सेचन और मण्डलावर्तन आदि करके मेरी सेवा करना, निर्मान तथा निष्कपट रहना और अपने किये हुए सेवादि कार्योंको किसीसे न कहना [हे उद्धव ! ये ही सब मेरी उत्तम भक्तिके लक्षण हैं]। इसके सिवा मेरे भक्तको चाहिये कि वह मुझे निवेदन किये हुए दीपक अथवा किसी अन्य पदार्थको अपने काममें न लावे।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ॥४१॥

संसारमें जो-जो वस्तु अपनेको सबसे अधिक प्रिय और अच्छी लगती हो, उसी-उसीको मेरे अर्पण कर दे; ऐसा करनेसे वह अनन्त फल देनेवाली हो जाती है।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम् ।
भूरात्मा सर्वभूतानि भद्र पूजापदानि मे ॥४२॥

हे भद्र ! सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, वैष्णव, आकाश, वायु, जल, पृथिवी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सब मेरी पूजाके आश्रय हैं।

सूर्ये तु विद्यया त्रय्या हविषाग्नौ यजेत माम् ।
आतिथ्येन तु विप्राग्र्ये गोष्वङ्ग यवसादिना ॥४३॥
वैष्णवे बन्धुसत्कृत्या हृदि खे ध्याननिष्ठया ।
वायौ मुख्यधिया तोये द्रव्यैस्तोयपुरस्कृतैः ॥४४॥
स्थण्डिले मन्त्रहृदयैर्भोगैरात्मानमात्मनि ।
क्षेत्रज्ञं सर्वभूतेषु समत्वेन यजेत माम् ॥४५॥

वेदत्रयीद्वारा सूर्यमें, घृताहुतियोंद्वारा अग्निमें, आतिथ्यद्वारा ब्राह्मणमें, चारे आदिके द्वारा गौमें, बन्धुवत् सत्कारके द्वारा वैष्णवमें, ध्याननिष्ठाद्वारा हृदयाकाशमें, मुख्य प्राणद्वारा वायुमें, जल-पुष्पादि सामग्रीद्वारा जलमें, गुप्त मन्त्रोंद्वारा पृथिवीमें, अनेक भोगोंद्वारा आत्मामें और समदृष्टिद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंमें मुझ क्षेत्रज्ञ आत्माकी पूजा करे ।

धिष्ण्येष्वेष्विति मद्रूपं शङ्खचक्रगदाम्बुजैः ।
युक्तं चतुर्भुजं शान्तं ध्यायन्नर्चेत्समाहितः ॥४६॥

इस प्रकार भिन्न-भिन्न बुद्धिसे उक्त स्थानोंमें शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त मेरे चतुर्भुज शान्त स्वरूपका ध्यान करते हुए समाहित चित्तसे मेरी पूजा करे ।

इष्टापूर्तेन मामेवं यो यजेत समाहितः ।
लभते मयि सद्भक्तिं मत्स्मृतिः साधुसेवया ॥४७॥

इस प्रकार जो पुरुष [यज्ञादि] इष्ट और [कूप, बावड़ी आदि] पूर्त कर्मोंद्वारा समाहित चित्तसे मेरा पूजन करता है

१. पा०—'एतेषु' ।

वह मेरी उत्तम भक्ति प्राप्त करता है और निरन्तर साधु-सेवासे उसे मेरे स्वरूपका ज्ञान भी हो जाता है ।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्संगेन विनोद्धव ।
नोपायो विद्यते सध्र्यङ् प्रायणं हि सतामहम् ॥४८॥

हे उद्धव ! सत्संगसहित भक्तियोगके अतिरिक्त [इस संसार-सागरसे पार होनेका] और कोई उपाय है ही नहीं; क्योंकि मैं साधुजनोंका नित्य सहगामी और एकमात्र अवलम्बन हूँ ।

अथैतत्परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन ।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा ॥४९॥

हे यदुनन्दन ! इसके बाद सुननेके इच्छुक तुमसे इस विषय-से भी अत्यन्त गूढ़ और गोपनीय विषय कहूँगा, क्योंकि तुम मेरे अनन्य सेवक, सुहृद् और सखा हो ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥



बारहवाँ अध्याय

सत्सङ्गकी महिमा और कर्मानुष्ठान तथा कर्मत्यागकी विधिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥ १ ॥
व्रतानि यज्ञ[1]श्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
यथावरु[2]न्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सर्वसंगनिवारक सत्संगके द्वारा मैं जैसा वशीभूत होता हूँ, वैसा योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट, पूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम, नियम—किसीसे नहीं होता ।

सत्संगेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः ।
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ॥ ३ ॥
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः ।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन्युगेऽनघ[3] ॥ ४ ॥
बहवो मत्पदं प्राप्तास्त्वाष्ट्रकायाधवादयः ।
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ॥ ५ ॥
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः ।
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ॥ ६ ॥

---

१. पा०—'यज्ञाः' । २. पा०—'अवरुन्धेत्' । ३. पा०—'युगे' ।

सत्संगके द्वारा ही भिन्न-भिन्न युगोंमें दैत्य, राक्षस, मृग, पक्षी, गन्धर्व, अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण, गुह्यक, विद्याधर, मनुष्योंमें वैश्य, शूद्र, स्त्री और अन्त्यज आदि राजस-तामस-प्रकृतिके जीव, एवं वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाणासुर, मय दानव, विभीषण, सुग्रीव, हनूमान्, जाम्बवान्, गज, गृध्र, तुलाधार वैश्य, व्याध, कुब्जा, व्रजकी गोपियाँ, यज्ञ-पत्नियाँ और ऐसे ही अन्यान्य अनेकों जन मेरे परम पदको प्राप्त हुए हैं।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७ ॥
केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥ ८ ॥
यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि ॥ ९ ॥

देखो गोपिकाएँ, गौएँ, यमलार्जुन एवं व्रजके अन्यान्य मृग आदि तथा और भी मन्दबुद्धि नाग एवं सिद्धगण, जिन्होंने न तो वेदोंको पढ़ा था, न महत्पुरुषोंकी उपासना की थी और न कोई व्रत या तप ही किया था केवल सत्संगजनित मेरे भक्ति-भावसे ही सुगमतापूर्वक मुझको प्राप्त हो गये, जिसको कि बड़े-बड़े साधनसम्पन्न प्रयत्नशील भी योग, सांख्य, दान, व्रत, तप, यज्ञ, श्रुतिके कथन और मनन तथा संन्यास आदि किसी उपायसे भी नहीं पा सकते।

---

१. पा०—'यत्'।

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः ।
विगाढभावेन न मे वियोग-
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय ॥१०॥

[हे उद्धव ! उन गोपियोंके प्रेमके विषयमें क्या कहा जाय ?] जिस समय श्वफल्क-पुत्र अक्रूरजी श्रीबलरामजीके साथ मुझे मथुरा ले आये तो परमप्रेमके कारण मुझमें अनुरक्त हुई उन गोपियोंको मेरे वियोगकी विषम व्यथाके कारण संसारमें अन्य कोई भी वस्तु सुखदायक न दीख पड़ी ।

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता
मयैव वृन्दावनगोचरेण ।
क्षणार्धवत्ताः पुनरंग तासां
हीना मया कल्पसमा बभूवुः ॥११॥

वृन्दावनमें स्थित मुझ प्रियतमके साथ जिन रात्रियोंको उन्होंने आधे क्षणके समान बिताया था, हे प्रिय ! वे ही रात्रियाँ मेरे बिना उन्हें एक-एक कल्पके समान हो गयीं ।

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमतस्तथेदम् ।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ॥१२॥

समाधिमें स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्रमें मिल जानेपर

नदियाँ जैसे अपने नाम और रूपको गँवा देती हैं उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश निरन्तर मुझमें ही मन लगे रहनेके कारण उन्हें अपने शरीरादिकी कोई भी सुधि नहीं रही थी।

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः ॥१३॥

मेरे [वास्तविक] स्वरूपको न जाननेवाली तथा रमण और जार-बुद्धिसे ही मेरी कामना करनेवाली उन सैकड़ों-हजारों अबलाओंने निरन्तर मेरा संग रहनेके कारण मुझे परब्रह्मरूपसे ही पा लिया।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥१४॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥१५॥

अतः हे उद्धव! अब तुम श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत—सबका परित्याग करके अनन्यभावसे समस्त देहधारियोंके आत्मस्वरूप एक मेरी ही शरणमें आ जाओ और मेरे आश्रित होकर सर्वथा निर्भय हो जाओ।

उद्धव उवाच

संशयः शृण्वतो वाचं तव योगेश्वरेश्वर!
न निवर्तत आत्मस्थो येन भ्राम्यति मे मनः ॥१६॥

उद्धवजी बोले—हे योगेश्वरोंके अधीश्वर! आपका इतना

१. पा०—'निवर्तेत'।

उपदेश सुनकर भी अभी मेरे मनका सन्देह पूर्णतया निवृत्त नहीं होता है, जिससे कि मेरा चित्त भ्रमित हो रहा है [आप भलीभाँति समझाकर उसे दूर कीजिये]।

श्रीभगवानुवाच

स एष जीवो विवरप्रसूतिः
प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं
मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥१७॥

श्रीभगवान् बोले—[चक्रसमूहरूप] विवरसे प्रकट होनेवाला यह जीव पहले परावाणीयुक्त प्राणके सहित गुहा (आधारचक्र) में रहता है। [यह इसकी कारणावस्था है, इस समय यह परावाणी कहलाता है।] फिर [मणिपूर-चक्रमें आकर यह पश्यन्तीरूपसे] मनोमय सूक्ष्म रूप धारण करता है और तदनन्तर [विशुद्ध चक्रमें मध्यमारूपसे परिणत होता हुआ अन्तमें मुखके द्वारा] मात्रा, स्वर और वर्णरूप स्थूल (वैखरी) वाणी होकर प्रकट होता है।

यथानलः खेऽनिलबन्धुरूष्मा
बलेन दारुण्यधिमथ्यमानः ।
अणुः प्रजातो हविषा समिध्यते
तथैव मे व्यक्तिरियं हि वाणी ॥१८॥

जिस प्रकार आकाशमें ऊष्मारूपसे स्थित अव्यक्त अग्नि काष्ठके बलपूर्वक मथे जानेपर वायुकी सहायता पाकर पहले अणु

(सूक्ष्म) रूपसे प्रकट होता है और फिर आहुतियोंद्वारा प्रचण्ड (स्थूल) रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार [परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी] वाणीरूपसे यह मेरी (शब्दब्रह्मकी) ही अभिव्यक्ति होती है ।

एवं गदिः कर्मगतिर्विसर्गो
घ्राणो रसो दृक्स्पर्शः श्रुतिश्च ।
संकल्पविज्ञानमथाभिमानः
सूत्रं रजःसत्त्वतमोविकारः ॥१९॥

इसी प्रकार वाणी, कर्म, गति, विसर्जन, घ्राण, रस, दर्शन, स्पर्श, श्रवण, संकल्प (मन), विज्ञान (बुद्धि), अभिमान, सूत्र (महत्तत्त्व) और सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणके विकार—ये सब मेरे ही कार्य हैं ।

अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनि-
रव्यक्त एको वयसा स आद्यः ।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति
बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत् ॥२०॥

यह जीव (मायोपाधिक ईश्वर) इस त्रिगुणमय ब्रह्माण्ड-कमलका कारण है । यह आदि-पुरुष पहले एक और अव्यक्त था । जिस प्रकार उर्वरा-भूमिमें पड़ा हुआ बीज [शाखा-पत्र-पुष्प आदि] अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार काल-गतिसे [मायाका आश्रय करनेपर] शक्तियोंका विभाग होनेसे यह परमात्मा भी नाना रूपोंसे प्रतीत होने लगता है ।

यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं
पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः ।
य एष संसारतरुः पुराणः
कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते ॥२१॥

जिस प्रकार तागोंके ताने-बानेमें वस्त्र ओत-प्रोत रहता है उसी प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मामें ही ओत-प्रोत है। यह जो सनातन संसार-वृक्ष है, कर्ममय है तथा [भोग और मोक्ष ही] इसके फूल और फल हैं।

द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः
पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः ।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीड-
स्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः ॥२२॥

इस संसार-वृक्षके (पाप और पुण्य) दो बीज हैं, अनन्त (वासनाएँ) जड़ें हैं, तीन (गुण) तने हैं, पाँच (भूत) स्कन्ध हैं, पाँच (शब्दादि विषय) रस हैं, ग्यारह (इन्द्रियाँ) शाखाएँ हैं, (जीव और ईश्वर) दो पक्षी इसमें घोंसला बनाकर रहते हैं, इसके (वात, पित्त और कफरूप) तीन वल्कल हैं और (सुख तथा दुःख) दो फल हैं; यह अति विशाल वृक्ष सूर्य-मण्डलतक फैला हुआ है। [इसके आगे लोकातीत स्थान है। इसीसे मुक्त पुरुष सूर्यमण्डल भेदकर जाते हैं।]

अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा
ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः ।

हंसा य एकं बहुरूपमिज्यै-
मायामयं वेद स वेद वेदम् ॥२३॥

जो नगर-निवासी गृहस्थरूप गृद्ध हैं वे [नाना प्रकारके यज्ञादि कर्मोंके बन्धनमें फँसे रहनेके कारण] इसके [दुःखरूप] एक फलको भोगते हैं और जो वनवासी परमहंसरूप राजहंस हैं वे इसके [सुखरूप] दूसरे फलके भागी होते हैं। जो पुरुष गुरुओंके द्वारा इनमें नानारूपसे भासनेवाले एक मायामय प्रभुको जानता है वही इसको वास्तवमें जानता है।

एवं गुरूपासनयैकभक्त्या
विद्याकुठारेण शितेन धीरः।
विवृश्च्य जीवाशयमप्रमत्तः
सम्पद्य चात्मानमथ त्यजास्त्रम् ॥२४॥

हे उद्धव ! इस प्रकार गुरुकी उपासनारूप अनन्य भक्तिके द्वारा तीक्ष्ण किये गये विद्यारूप कुठारसे धैर्य और सावधानतापूर्वक जीवभावका उच्छेद करके परमात्मस्वरूप हो जाओ और फिर उस विद्यारूप शस्त्रको भी त्याग दो [क्योंकि वृत्तिज्ञान भी अज्ञान ही है]।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥



ॐ

तेरहवाँ अध्याय

हंसोपाख्यान

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः ।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात्सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सत्त्व, रज और तम ये बुद्धिके गुण हैं, आत्माके नहीं; सत्त्वके द्वारा रज और तम दोनोंको जीते और फिर सत्त्व (मिश्र सत्त्व) की प्रवृत्तिको भी सत्त्व (शुद्ध सत्त्व) के द्वारा शान्त कर दे ।

सत्त्वाद्धर्मो भवेद्वृद्धात्पुंसो मद्भक्तिलक्षणः ।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते ॥ २ ॥

बढ़े हुए सत्त्वगुणके द्वारा ही पुरुषको मेरे भक्तिरूप धर्मकी प्राप्ति होती है । सत्त्वगुणकी वृद्धि सात्त्विक वस्तुओंके सेवनसे होती है और उनसे मेरे भक्तिरूप धर्ममें प्रवृत्ति होती है ।

धर्मो रजस्तमो हन्यात्सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः ।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते ॥ ३ ॥

सत्त्वकी वृद्धिसे युक्त सर्वोत्तम धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करता है और उन दोनोंका नाश होनेपर उनके द्वारा होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥ ४ ॥

शास्त्र, जल, कुटुम्ब, देश, काल, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दश गुणोंके आविर्भावके कारण हैं।

तत्तत्सात्त्विकमेवैषां यद्यद्वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं यत्तद्राजसं तदुपेक्षितम् ॥ ५ ॥

इनमेंसे जिन-जिनकी वृद्धजन प्रशंसा करते हैं वे-वे ही सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं वे तामस हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं वे राजस हैं।

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान्सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ॥ ६ ॥

जबतक आत्मज्ञानकी प्राप्ति और देहद्वय तथा उनके कारणभूत गुणोंकी निवृत्ति न हो तबतक सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये मनुष्यको सात्त्विक शास्त्रादिका ही सेवन करना चाहिये, उससे धर्मकी वृद्धि होती है और फिर उससे ज्ञान उत्पन्न होता है।

वेणुसंघर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः ॥ ७ ॥

बाँसोंके संघर्षसे उत्पन्न हुआ अग्नि जैसे उनके वनको भस्म करके ही शान्त होता है वैसे ही गुण-वैषम्यसे उत्पन्न हुआ देह भी वैसी ही क्रियावाला होकर [अर्थात् अपनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा गुणोंके सम्पूर्ण कार्यका लय करके] ही शान्त होता है।

उद्धव उवाच

वदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान्पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण! तत्कथं श्वखराजवत् ॥ ८ ॥

१. पा०—'तत्'। २. पा०—'अपोहनी'।

श्रीउद्धवजी बोले—हे कृष्णचन्द्र! प्रायः सभी लोग सांसारिक विषयोंको दुःखमय बतलाते हैं तथापि वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान उनको क्यों भोगते रहते हैं?

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! अविचारी पुरुषके चित्तमें जो 'मैं हूँ' ऐसी अन्यथा-बुद्धि उत्पन्न होती है उससे उसका वैकारिक (सत्त्वप्रधान) मन घोर रजोगुणकी ओर प्रवृत्त हो जाता है।

रजोयुक्तस्य मनसः संकल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद्दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥१०॥

चित्तके रजोयुक्त होनेपर अनेकों विकल्पोंके सहित संकल्प उठते हैं और फिर गुणोंके चिन्तनसे उस मन्दमतिको नाना प्रकारकी दुःसह कामनाएँ आ घेरती हैं।

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि संपश्यन् रजोवेगविमोहितः॥११॥

इस प्रकार रजोगुणके प्रबल प्रवाहमें पड़कर विमूढ़ हुआ वह अजितेन्द्रिय पुरुष कामनाओंके वशीभूत होकर नाना प्रकारके कर्मोंको, जो परिणाममें दुःखमय ही होते हैं, करता है।

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान्विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन्दोषदृष्टिर्न सज्जते॥१२॥

यद्यपि विवेकी पुरुष कभी-कभी रज-तमसे विक्षिप्तचित्त भी होता है तथापि दोषदृष्टिके द्वारा अपने विक्षिप्तचित्तको सावधानतापूर्वक समाहित कर देनेसे वह उनमें आसक्त नहीं होता।

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयन् शनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं[1] जितश्वासो जितासनः ॥१३॥

[चित्त समाहित करनेके लिये साधकको चाहिये कि वह] सावधान और चिन्तारहित होकर नियत समयपर क्रमशः श्वास और आसनको जीतकर धीरे-धीरे मुझमें चित्त लगाकर योगका अभ्यास करे।

एतावान्योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा ॥१४॥

मेरे शिष्य सनकादिने इसीको मुख्य योग कहा है कि जिससे चित्तको सब ओरसे खींचकर सर्वथा मुझमें ही लगा दिया जाय।

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद्रूपमिच्छामि वेदितुम् ॥१५॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे केशव! आपने जिस समय और जिस रूपसे सनकादिको योगका उपदेश किया था, उस रूपके विषयमें मैं जानना चाहता हूँ [कृपया बतलाइये]।

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम् ॥१६॥

---

१. पा०—'यथाकामम्'।

श्रीभगवान् बोले-एक बार ब्रह्माजीके मानस-पुत्र सनकादि-ने अपने पितासे योगकी सूक्ष्म पराकाष्ठाके विषयमें प्रश्न किया।

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः ॥१७॥

सनकादिने कहा-प्रभो! चित्त स्वभावसे ही गुणों (विषयों) में जाता है और गुण [वासनारूपसे] चित्तमें प्रवेश करते हैं, फिर इस संसार-सागरसे पार होकर मुक्ति-पद चाहनेवाला व्यक्ति इनको परस्पर कैसे पृथक् कर सकता है?

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः ॥१८॥

श्रीभगवान् बोले-देवशिरोमणि भूतभावन श्रीब्रह्माजी, इस प्रकार पूछे जानेपर, कर्ममयी बुद्धि होनेके कारण बहुत कुछ विचार करनेपर भी प्रश्नका यथार्थ कारण न समझ सके।

स मामचिन्तयद्देवः प्रश्नपारतितीर्षया[1]।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा ॥१९॥

तब इस प्रश्नका पार पानेकी इच्छासे उन्होंने मेरा ध्यान किया। उस समय मैं हंसरूपसे उनके पास प्रकट हुआ।

दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति ॥२०॥

१. पा०—'अतितीर्षया'।

मुझे देखकर उन्होंने ब्रह्माजीको आगे कर मेरे समीप आ, मेरा चरण वन्दन करनेके अनन्तर पूछा कि आप कौन हैं ?

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा ।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे ॥२१॥

हे उद्धव ! उस समय उन तत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके इस प्रकार पूछनेपर मैंने उनसे जो कुछ कहा सो सुनो ।

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः ।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः ॥२२॥

[मैंने कहा—] हे विप्रगण ! यदि तुम्हारा यह प्रश्न आत्माके विषयमें है तो आत्मवस्तु तो एक ही है, [उसमें किसी प्रकारका भी सजातीय-विजातीय अथवा स्वगत भेद नहीं है,] अतः तुमलोगोंका यह प्रश्न हो ही कैसे सकता है ? और इसका उत्तर देनेवाले मेरा भी क्या आश्रय हो सकता है ? [अर्थात् मैं भी निर्विशेषरूप होनेसे किस जाति, गुण अथवा व्यक्तिरूप विशेषका आश्रय लेकर इसका उत्तर दूँ ?]

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः ।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः ॥२३॥

और यदि तुम पञ्चभूतात्मक शरीरसे ऐसा पूछते हो तो समस्त शरीर भी पञ्चभूतरूप होनेसे वास्तवमें अभिन्न ही हैं; अतः तुम्हारा यह प्रश्न कि 'आप कौन हैं ?' वाणीका व्यर्थ आडम्बर ही है ।

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः ।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा ॥२४॥

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे अथवा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ प्रतीत होता है, निश्चय जानो वह सब मैं ही हूँ, मुझसे पृथक् कुछ भी नहीं है।

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः ॥२५॥

हे पुत्रगण! यह ठीक है कि चित्त विषयोंका अनुसरण करता है और विषय चित्तमें प्रवेश करते हैं; किन्तु वे दोनों विषय और चित्त [परस्पर संश्लिष्ट होते हुए भी] मेरे ही स्वरूपभूत जीवकी उपाधि ही हैं उसके स्वरूप या स्वभाव नहीं।

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत् ॥२६॥

विषयोंका पुनः-पुनः सेवन करनेसे चित्त उनसे आविष्ट हो जाता है और फिर वासनारूपसे चित्तहीसे उनकी अभिव्यक्ति होती रहती है, इसलिये अपने शुद्धस्वरूपको मेरा ही रूप जानकर चित्त और विषयरूप दोनों उपाधियोंको त्याग देना चाहिये।

जाग्रत्स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः ॥२७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये गुणवैषम्यके कारण हुई चित्त-की ही वृत्तियाँ हैं, इनके साक्षीरूपसे निश्चय किया हुआ जीव तो इनसे भिन्न ही है।

यर्हि[1] संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्त्यागस्तद्गुणचेतसाम् ॥२८॥

---

१. पा०—'यो हि'।

जीवको गुणवृत्ति प्रदान करनेवाला जो यह संसारबन्धन है उसे साक्षीरूप मुझ तुरीयमें स्थित होकर त्याग दे। इससे चित्त और गुणोंका सम्बन्ध टूट जायगा।

अहंकारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान्निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत् ॥२९॥

यह अहङ्कारजनित बन्धन ही जीवको उसके स्वार्थसे विपरीत दिशामें ले जाता है; अतः विद्वान्को चाहिये कि उसकी ओरसे उपरत होकर मुझ तुरीयरूप आत्मामें स्थित हो सांसारिक चिन्ताको छोड़ दे।

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः[१] स्वप्ने जागरणं यथा ॥३०॥

जबतक युक्तियोंके द्वारा पुरुषकी भेदबुद्धि निवृत्त नहीं होती तबतक वह मूर्ख जागता हुआ भी सोया हुआ है; जिस प्रकार कि स्वप्नावस्थामें भी [विषयोंका अनुभव होनेके कारण] जागरणका भ्रम होता है।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता[२] भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा ॥३१॥

क्योंकि आत्मासे अतिरिक्त अन्य सब पदार्थोंका अत्यन्त अभाव है इसलिये आत्ममायासे प्रतीत होनेवाले भेद (देहादि), उनकी गतियाँ (स्वर्गादि) और हेतु (कर्म) स्वप्नद्रष्टाके स्वाप्न प्रपञ्चके समान मिथ्या हैं।

१. पा०—'स्वप्नयुक्तः'। २. पा०—'किंकृता'।

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुंक्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान् ।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥३२॥

जो जागृतिमें अपनी समस्त इन्द्रियोंसे बाह्य क्षणिक पदार्थोंको भोगता है, स्वप्नमें वैसे ही वासनामय विषयोंका हृदयमें अनुभव करता है तथा सुषुप्तिमें उन सबका लय कर देता है, वह आत्मा एक है तथा तीनों अवस्थाओंकी स्मृतिसे युक्त होनेके कारण उनका साक्षी और नियामक है ।

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था[1]
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः[2] ।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम् ॥३३॥

अतः विचारके द्वारा ऐसा निश्चय करके कि मनकी ये तीनों अवस्थाएँ मेरी मायाके गुणोंद्वारा मुझमें ही कल्पित हैं, अनुमान और आप्तोक्तियोंद्वारा तीक्ष्ण किये हुए ज्ञानरूपी खड्गसे सर्व संशयोंके आश्रयरूप अहंकारको काटकर अपने हृदयमें विराजमान मेरा भजन करो ।

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम् ।

१. पा०—'त्र्यवस्थाम्' । २. पा०—'निश्चितार्थः' ।

विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः ॥३४॥

इस भ्रान्तिरूप जगत्‌को मनका विभ्रममात्र, दृश्य, नश्वर और अलातचक्रके समान अति चञ्चल जानना चाहिये। यह एक ही विज्ञान नानारूपसे भास रहा है। अतः गुणोंके परिणामसे हुआ यह [जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप] तीन प्रकारका विकल्प मायामय स्वप्नरूप ही है।

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं[2] भ्रमाय न भवेत्स्मृतिरानिपातात् ॥३५॥

इस प्रकार मायिक प्रपञ्चसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित, मौन, निजानन्दपूर्ण और निश्चेष्ट हो जाय; फिर यद्यपि [आहारादिके समय] इसकी प्रतीति भी होगी, तथापि अवस्तु समझकर छोड़ा हुआ होनेके कारण यह भ्रम उत्पन्न न कर सकेगा; हाँ देहपातपर्यन्त इसकी प्रतीति तो होती ही रहेगी।

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥३६॥

मदिरासे उन्मत्त हुआ पुरुष जैसे अपने शरीरपर ओढ़े हुए

---

१. पा०—'विज्ञातम्'। २. पा०—'त्यक्तुम्'।

वस्त्रके दैववश रहने या गिरनेके विषयमें कुछ भी नहीं जानता वैसे ही सिद्ध पुरुषका यह नाशवान् शरीर बैठा हो या खड़ा हो उसे कुछ पता नहीं होता, क्योंकि वह अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर चुका है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥३७॥

जबतक देहारम्भक प्रारब्धकर्म शेष रहता है तबतक यह दैवाधीन शरीर प्राणादिके सहित जीता रहता है; किन्तु समाधियोगमें आरूढ होकर तत्त्वका साक्षात्कार कर लेनेपर विज्ञ पुरुष फिर प्रपञ्चसहित इस स्वप्नवत् शरीरमें आसक्त नहीं होता।

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत्सांख्ययोगयोः।
जानीतमागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया ॥३८॥

हे ब्राह्मणो! मैंने तुमसे यह जो सांख्य और योगका परम गुह्य रहस्य है, कहा; तुम मुझे अपनेको धर्मोपदेश देनेके लिये आया हुआ साक्षात् यज्ञपुरुष नारायण जानो।

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च ॥३९॥

हे द्विजश्रेष्ठ! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत, तेज, श्री, कीर्ति और दम—इन सबकी परम गति [अर्थात् अधिष्ठान] हूँ।

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम् ।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयो गुणाः ॥४०॥

समता और असंगता आदि सम्पूर्ण गुण अपने परम प्रिय सुहृद् और आत्मा मुझ निर्गुण और निरपेक्षको ही भजते हैं। [अर्थात् इन सबका आश्रय भी मैं ही हूँ।]

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः ।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः ॥४१॥

इस प्रकार मेरे वचनसे सन्देह दूर हो जानेपर उन सनकादि मुनियोंने अतिभक्तिपूर्वक मेरी पूजा कर स्तोत्रोंद्वारा मेरी स्तुति की।

तैरहं पूजितः सम्यक्संस्तुतः परमर्षिभिः ।
प्रत्येयाय[1] स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः ॥४२॥

इसके उपरान्त मैं उन श्रेष्ठ ऋषियोंद्वारा भली प्रकार पूजित और स्तुत होकर, ब्रह्मादिके देखते-देखते [अदृश्य होकर] अपने परम धामको चला आया।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥



१. पा०—'प्रतीयाय'।

ॐ

चौदहवाँ अध्याय

भक्तिकी महिमा तथा ध्यानयोगका वर्णन

उद्धव उवाच

वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः ।
तेषां विकल्पप्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे श्रीकृष्णचन्द्र ! ब्रह्मवादी महात्मागण श्रेयःसिद्धिके अनेक मार्ग बतलाते हैं, वे विकल्पसे (अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार) सभी ठीक हैं या उन सबमें कोई एक ही प्रधान है ।

भवतोदाहृतः स्वामिन्भक्तियोगोऽनपेक्षितः ।
निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥ २ ॥

भगवन् ! आपने तो निरपेक्ष (अहैतुक) भक्तियोगको ही प्रधान बतलाया है, जिसके अनुसार सब ओरसे आसक्ति छोड़कर आपहीमें मन लगाना चाहिये ।

श्रीभगवानुवाच

कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता ।
मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—काल-क्रमसे मेरी यह वेद नामकी वाणी प्रलयकालमें नष्ट हो गयी थी, जिसे इस सर्गके आरम्भमें मैंने ब्रह्माको सुनाया था, तथा जिसमें मेरे भागवत-धर्मका ही निरूपण है ।

तेन प्रोक्ता च पुत्राय मनवे पूर्वजाय सा ।
ततो भृग्वादयोऽगृह्णन्सप्त ब्रह्ममहर्षयः ॥ ४ ॥

उस (ब्रह्मा) ने अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वायम्भुव मनुको उसका उपदेश दिया और मनुसे भृगु आदि[1] सात ब्रह्मर्षियोंने उसे ग्रहण किया ।

तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रा देवदानवगुह्यकाः ।
मनुष्याः सिद्धगन्धर्वाः सविद्याधरचारणाः ॥ ५ ॥
किंदेवाः किन्नरा नागा रक्षःकिंपुरुषादयः ।
बह्व्यस्तेषां प्रकृतयो रजःसत्त्वतमोभुवः ॥ ६ ॥
याभिर्[2]भूतानि भिद्यन्ते भूतानां मतयस्तथा ।
यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचः स्रवन्ति हि ॥ ७ ॥

तदनन्तर, अपने पितृगण उन महर्षियोंसे उनकी सन्तान देव, दानव, गुह्यक, मनुष्य, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, किंदेव[3], किन्नर[4], नाग, राक्षस और किंपुरुष[5] आदिने उस वेदविद्याको प्राप्त किया। उनके सत्त्व, रज और तमोगुणजनित स्वभाव अनेक प्रकारके हैं, जिनके कारण उन प्राणियोंमें तथा उनकी बुद्धियोंमें भी

---

१. भृगु, अंगिरा, मरीचि, पुलह, अत्रि, पुलस्त्य और क्रतु ।

२. पा०—'ताभिः' ।

३. श्रम और स्वेदादि दुर्गन्धसे रहित होनेके कारण जिनके विषयमें 'ये देवता हैं या मनुष्य' ऐसा सन्देह हो वे द्वीपान्तरनिवासी मनुष्य ।

४. मुख तथा शरीरकी आकृतिसे कुछ कुछ मनुष्यके समान प्राणी ।

५. कुछ-कुछ पुरुषके समान प्रतीत होनेवाले वानरादि ।

बहुत भेद है। अतः उन सबने अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार वेदके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।

एवं प्रकृतिवैचित्र्याद्भिद्यन्ते मतयो नृणाम्।
पारम्पर्येण केषाञ्चित्पाखण्डमतयोऽपरे ॥ ८ ॥

इस प्रकृति-भेदके कारण ही परम्परासे किन्हीं-किन्हीं मनुष्योंके विचारोंमें भी भेद पड़ गया, और कोई-कोई तो उनमें वेद-विरुद्ध पाखण्ड-मतावलम्बी भी हो गये हैं।

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥ ९ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! मेरी मायासे मोहित होनेके कारण वे लोग अपने-अपने कर्म और स्वभावके अनुसार कल्याणमार्गका भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रतिपादन करते हैं।

धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम्।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा[1] ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥१०॥

कोई[2] धर्मको, कोई[3] यशको, कोई[4] कामको, कोई[5] सत्य और शम-दमादिको, कोई[6] ऐश्वर्यको तथा कोई[7] दान और भोगको ही स्वार्थ (परमार्थ) बतलाते हैं।

केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान्यमान्।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः[8] ॥११॥

१. पा०—'वै'। २. पूर्वमीमांसक। ३. साहित्यशास्त्रके आचार्य। ४. कामशास्त्री। ५. योगवेत्ता। ६. दण्डनीतिकार। ७. लोकायतिक। ८. पा०—'शुचार्दिताः'।

कोई[1] यज्ञ, तप, दान, व्रत तथा यम-नियमादिको ही पुरुषार्थ बतलाते हैं। किन्तु इन कर्मोंसे जो लोक मिलते हैं वे आदि-अन्तवाले, परिणाममें दुःख देनेवाले, तुच्छ आनन्दवाले तथा शोकसे व्याप्त हैं।

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः।
मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम् ॥१२॥

हे सभ्य! सब ओरसे निरपेक्ष होकर मुझमें ही चित्त लगानेवाले, मुझहीमें लीन रहनेवाले पुरुषको जो सुख प्राप्त होता है, वह विषयलोलुप व्यक्तियोंको कैसे मिल सकता है?

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य[2] समचेतसः।
मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥१३॥

जो अकिञ्चन, जितेन्द्रिय, शान्त, समबुद्धि और मेरी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट है उसके लिये सब दिशाएँ सुखमयी ही हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥१४॥

जिसने अपने चित्तको मुझमें ही लगा दिया है वह मुझको छोड़कर न ब्रह्मपद, न इन्द्रपद, न चक्रवर्तीराज्य, न समस्त भूमण्डलका आधिपत्य, न योगकी सिद्धियाँ और न मोक्षकी ही कामना करता है।

१. कर्मयोगी। २. पा०—'शुद्धस्य'।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः ।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् ॥१५॥

[इसलिये] हे उद्धव! आप [भक्तलोग] मुझे जैसे प्रिय हैं वैसे तो न ब्रह्मा हैं, न शंकर हैं, न बलभद्र हैं, न लक्ष्मी हैं, और न अपना आत्मा ही है।

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्[1] ।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः ॥१६॥

जो निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर और समदर्शी मुनि है उसके तो मैं, इस दृष्टिसे कि इसकी चरणरजसे पवित्र हो जाऊँगा, सदा पीछे फिरा करता हूँ।

निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः ।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम ॥१७॥

मुझमें अनुरक्त, अकिञ्चन, शान्त, सर्वभूतहितकारी और कामनाओंसे रहितचित्त महात्मागण जिस आनन्दका अनुभव करते हैं, केवल निरपेक्षतासे ही प्राप्त होनेवाले मेरे उस परमानन्दको और लोग नहीं जानते।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः ।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते ॥१८॥

१. पा०—'समदर्शिनम्'।

[यह तो मेरे उत्तम भक्तोंकी बात हुई] मेरा अजितेन्द्रिय भक्त भी विषयोंसे बाधित होनेपर प्रायः अपनी प्रौढ़ा भक्तिके प्रभावसे उन विषयोंके वशीभूत नहीं होता ।

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् ।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१९॥

जिस प्रकार बढ़ा हुआ अग्नि इन्धनको जलाकर भस्म कर डालता है, हे उद्धव ! उसी प्रकार मेरी भक्ति भी सम्पूर्ण पापराशिको पूर्णतया ध्वस्त कर देती है ।

न साधयति मां योगो[1] न सांख्यं धर्म[2] उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥२०॥

हे उद्धव ! मेरी सुदृढ़ भक्ति मुझे जिस प्रकार प्राप्त करा सकती है उस प्रकार तो न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप और न दान ही करा सकता है ।

भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥

साधुजनोंका प्रिय आत्मारूप मैं एकमात्र श्रद्धासम्पन्न भक्तिसे ही सुलभ हूँ; मेरी भक्ति चाण्डालादिको भी उनके जातीय दोषसे छुड़ाकर पवित्र कर देती है ।

धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक्प्रपुनाति हि ॥२२॥

१. पा०—'धर्मः' । २. पा०—'योगः' ।

मेरी भक्तिसे हीन पुरुषोंको सत्य और दयासे युक्त धर्म अथवा तपसे युक्त विद्या भी पूर्णतया पवित्र नहीं कर सकती ।

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः ॥२३॥

विना रोमाञ्च हुए, विना चित्तके द्रवीभूत हुए, बिना आनन्दाश्रुओंका उद्रेक हुए तथा विना भक्तिके अन्तःकरण कैसे शुद्ध हो सकता है?

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥२४॥

जिसकी वाणी गद्गद और चित्त द्रवीभूत हो जाता है, जो कभी वार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी निःसङ्कोच होकर उच्चस्वरसे गाने लगता है और कभी नाच उठता है—ऐसा मेरा परम भक्त त्रिलोकीको पवित्र कर देता है ।

यथाग्निना हेममलं जहाति
ध्मातं पुनः स्वं भजते स्वरूपम् ।
आत्मा च कर्मानुशयं विधूय
मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥२५॥

जिस प्रकार अग्निसे तपाये जानेपर सुवर्ण मैलको त्याग देता है और अपने स्वच्छ स्वरूपको प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार मेरे भक्तियोगके द्वारा आत्मा भी कर्मवासनासे मुक्त होकर अपने स्वरूप मुझको प्राप्त हो जाता है ।

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु[1] सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥२६॥

जैसे-जैसे मेरी परम पावन कथाओंके श्रवण और कीर्तनसे चित्त परिमार्जित होता जाता है वैसे-वैसे ही वह अञ्जनयुक्त नेत्रोंके समान सूक्ष्म (वस्तु) तत्त्वका दर्शन करता जाता है ।

विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते ।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्येव प्रविलीयते ॥२७॥

जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है । इसी प्रकार जो मेरा स्मरण करता है वह मुझमें लीन हो जाता है ।

तस्मादसदभिध्यानं यथा स्वप्नमनोरथम् ।
हित्वा मयि समाधत्स्व मनो मद्भावभावितम् ॥२८॥

इसलिये अन्य साधन स्वप्नके मनोरथोंके समान असच्चिन्तन-मात्र हैं; अतः उन्हें छोड़कर मेरे चिन्तनसे शुद्ध हुए चित्तको मुझहीमें लगा दो ।

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान् ।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः ॥२९॥

विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह स्त्री और स्त्रीसंगियोंका संग

१. पा०—'तत्त्वसूक्ष्मम्' ।

दूरसे ही त्यागकर निर्भय और निर्जन एकान्त स्थानमें बैठकर आलस्यरहित होकर मेरा चिन्तन करे ।

न तथास्य भवेत्क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्संगाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसंगतः ॥२०॥

किसी अन्यके संगसे इस (मुमुक्षु) पुरुषको ऐसा क्लेश और बन्धन नहीं होता जैसा कि स्त्री अथवा उसके संगियोंके संगसे होता है ।

उद्धव उवाच

यथा त्वामरविन्दाक्ष यादृशं वा यदात्मकम् ।
ध्यायेन्मुमुक्षुरेतन्मे ध्यानं मे वक्तुमर्हसि ॥२१॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! मुमुक्षु पुरुषको जिस प्रकार, जिस रूपमें और जिस भावसे आपका ध्यान करना चाहिये वह ध्यान मुझे बतलाइये ?

श्रीभगवानुवाच

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।
हस्तावुत्संग आधाय स्वनासाग्रकृतेक्षणः ॥२२॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! सुखपूर्वक सम आसनसे शरीरको सीधा रखकर बैठे, हाथोंको गोदमें रक्खे और दृष्टिको नासिकाके अग्रभागमें स्थिर करे ।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ॥२३॥

१. पा०—'त्वम्' ।

फिर क्रमसे पूरक, कुम्भक और रेचकद्वारा अथवा इससे उलटे क्रमसे [रेचक, कुम्भक और पूरक करके] नाड़ीकी शुद्धि करे और जितेन्द्रिय होकर शनैः-शनैः प्राणायामका अभ्यास करे।

हृद्यविच्छिन्नमोंकारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत्स्वरम् ॥३४॥

[प्राणायाम दो प्रकारका है—सगर्भ और अगर्भ। उनमेंसे पहले सगर्भका वर्णन किया जाता है—] हृदयमें निहित कमलनाल-तुल्य ओंकारको प्राणके द्वारा ऊपरकी ओर ले जाकर उसमें घण्टानादसदृश स्वर स्थिर करे।

एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग्जितानिलः ॥३५॥

इस प्रकार नित्यप्रति तीन समय दश-दश बार ओंकार-सहित ही प्राणायामका अभ्यास करे। ऐसा करनेसे एक मासमें ही साधक प्राण-वायुको जीत लेता है।

हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥३६॥
कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमंगलम् ॥३७॥

फिर अन्तःकरणमें स्थित ऊपरकी ओर नाल और नीचेको मुखवाले हृदय-कमलको ऊपरकी ओर मुखवाला, खिला हुआ तथा आठ पंखड़ियों और बीचकी कलीके सहित चिन्तन कर

उसकी कलीमें क्रमशः सूर्य, चन्द्र और अग्निकी भावना करे तथा अग्निके मध्यमें जिसका ध्यान अत्यन्त मङ्गलमय है ऐसे मेरे इस रूपका ध्यान करे।

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्[1]।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम् ॥३८॥
समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम्।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥३९॥
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम्।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥४०॥
द्युमत्किरीटकटककटिसूत्राङ्गदायुतम्।
सर्वाङ्गसुन्दरं हृद्यं प्रसादसुमुखेक्षणम् ॥४१॥
सुकुमारमभिध्यायेत्सर्वाङ्गेषु मनो दधत्।

जो अनुरूप अंगोंसे सुशोभित अति शान्त, सुन्दर मुख और दीर्घ, सुन्दर चार भुजाओंसे युक्त है, जिसकी ग्रीवा अति सुन्दर और सुघड़ है, कपोल सुन्दर हैं; अति मनोहर मुसकान है; जिसके समान श्रवण-पुट (कान) में मकराकृत कुण्डलें चमचमा रहे हैं; जो मेघके समान श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी और श्रीवत्स तथा लक्ष्मीजीका निवासस्थान है; जो शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वन-मालासे विभूषित है, जिसके चरण-कमल नूपुरोंसे सुशोभित हैं, जो कौस्तुभमणिकी आभासे सम्पन्न है, तथा जो सब ओरसे कान्तिमय किरीट, कटक, करधनी और अंगद (भुजबन्ध) आदि

१. पा०—'दीर्घबाहुं चतुर्भुजम्'।

आभूषणोंसे युक्त है; सर्वांग सुन्दर और हृदयहारी है एवं जिसके मुख और नेत्र प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं उस मेरे सुकुमार शरीर-का उसके सब अंगोंमें चित्त लगाते हुए, ध्यान करे।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥४२॥

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि मनके द्वारा इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे खींचकर, उस मनको बुद्धिरूपी सारथिकी सहायतासे सर्वांगयुक्त मुझमें ही लगा दे।

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥४३॥

सब ओर फैले हुए चित्तको खींचकर एक स्थानमें स्थिर करे और फिर अन्य अंगोंका चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस-कानयुक्त मुखका ही ध्यान करे।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥४४॥

मुखारविन्दमें चित्तके स्थिर हो जानेपर उसे वहाँसे हटाकर आकाशमें स्थिर करे, तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्व-रूपमें आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे।

एवं समाहितमतिर्मामेवात्मानमात्मनि।
विचष्टे मयि सर्वात्मञ्ज्योतिर्ज्योतिषि संयुतम् ॥४५॥

इस प्रकार चित्तके वशीभूत हो जानेपर, जिस प्रकार एक

ज्योतिमें दूसरी ज्योति मिलकर एक हो जाती है उसी प्रकार अपनेमें मुझको और मुझ सर्वात्मामें अपने आपको देखता है ।

ध्यानेनेत्थं सुतीव्रेण युञ्जतो योगिनो मनः ।
संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः ॥४६॥

इस प्रकार तीव्र ध्यान-योगके द्वारा चित्तका संयम करनेवाले योगीके चित्तका द्रव्य, ज्ञान और कर्मसम्बन्धी भ्रम शीघ्र ही निवृत्त हो जाता है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

पन्द्रहवाँ अध्याय

सिद्धियोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले-हे उद्धव ! जितेन्द्रिय, स्थिरचित्त, श्वासको जीतनेवाले और मुझमें ही चित्त स्थिर रखनेवाले योगीको सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है ।

उद्धव उवाच

कया धारणया कास्वित्कथं वा सिद्धिरच्युत ।
कति वा सिद्धयो ब्रूहि योगिनां सिद्धिदो भवान् ॥ २॥

उद्धवजी बोले—हे अच्युत ! योगियोंको सिद्धि देनेवाले आप ही हैं, अतः कृपया बतलाइये कि किस धारणासे किस प्रकार कौन-सी सिद्धि प्राप्त होती है और सम्पूर्ण सिद्धियाँ कितनी हैं ?

श्रीभगवानुवाच

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणायोगपारगैः ।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥ ३ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! धारणायोगके पारदर्शियोंने सब सिद्धियाँ अठारह बतलायी हैं, उनमेंसे आठमें मेरी प्रधानता है और दश गौणी अर्थात् सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होनेवाली हैं ।

अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः ।
प्राकाश्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता ॥ ४ ॥

अणिमा, महिमा और लघिमा शरीरकी सिद्धियाँ हैं, प्राप्ति नामकी सिद्धिका सम्बन्ध इन्द्रियोंसे है, सुने (पारलौकिक) और देखे हुए (लौकिक) पदार्थोंका इच्छानुसार अनुभव कर लेना प्राकाश्य नामकी सिद्धि है तथा माया और उसके कार्योंको इच्छानुसार प्रेरित कर सकना ईशिता है ।

गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति ।
एता मे सिद्धयः सौम्य अष्टावौत्पत्तिका[1] मताः ॥ ५ ॥

विषयोंमें [उनके समीपस्थ रहते हुए भी] आसक्त न होना वशिता है तथा इच्छित पदार्थोंकी जो चरम सीमाको प्राप्त कर

१. पा०—'अष्टौ चौत्पत्तिकाः' ।

लेता है [वह प्राकाम्य नामकी आठवीं सिद्धि है] । हे सौम्य ! ये आठ सिद्धियाँ मुझे स्वभावसे ही प्राप्त हैं ।

अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम् ।
मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम् ॥ ६ ॥
स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम् ।
यथासंकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहतागतिः ॥ ७ ॥

इस शरीरमें क्षुधा-पिपासा आदि छः ऊर्मियों (शारीरिक वेगों) का न होना, दूर-श्रवण तथा दूर-दर्शन, मनके समान शीघ्र-गति हो जाना, इच्छानुकूल रूप धारण कर लेना, अन्य शरीरमें प्रवेश कर जाना, स्वेच्छा-मृत्यु, देवांगनाओंके साथ होनेवाली देवताओंकी क्रीडाओंका दर्शन, जैसे संकल्प हो उसीका सिद्ध हो जाना, [जिसका कोई उल्लंघन न कर सके, ऐसी] आज्ञा और [लोकान्तरोंमें] बिना रोक-टोक गति—[ये दश सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे होती हैं] ।

त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता ।
अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥
एताश्चोद्देशतः प्रोक्ता योगधारणसिद्धयः ।
यया धारणया या स्याद्यथा वा स्यान्निबोध मे ॥ ९ ॥

[इनके अतिरिक्त] त्रिकालज्ञता, निर्द्वन्द्वता (शीत-उष्ण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना), दूसरेके चित्त आदिकी बात जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिकी शक्तिको बाँध देना और किसीसे भी पराजित न होना [ये पाँच

सिद्धियाँ और भी हैं]। अब इनमेंसे जो सिद्धि जिस धारणासे और जिस प्रकारसे होती है—वह मेरेसे और जान लो।

भूतसूक्ष्मात्मनि मयि तन्मात्रं धारयेन्मनः।
अणिमानमवाप्नोति तन्मात्रोपासको मम॥१०॥

जो पुरुष मनको तन्मात्रारूप निश्चितकर उसे मुझ भूत-सूक्ष्मोपाधिक (तन्मात्रारूप) परमात्मामें स्थिर करता है वह मेरा तन्मात्रोपासक 'अणिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है।

महत्यात्मन्मयि परे यथासंस्थं मनो दधत्।
महिमानमवाप्नोति भूतानां च पृथक् पृथक्॥११॥

मुझ महत्तत्त्वरूप परमात्मामें मनकी महत्तत्त्वरूपसे ही धारणा करनेवाला पुरुष 'महिमा' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है। और इसी प्रकार [पञ्चभूतोपाधिक मुझमें मनको लगानेसे] पृथक्-पृथक् भूतोंकी 'महिमा' प्राप्त कर लेता है।

परमाणुमये चित्तं भूतानां मयि रञ्जयन्।
कालसूक्ष्मार्थतां योगी लघिमानमवाप्नुयात्॥१२॥

[वायु आदि चार भूतोंके] परमाणुरूप उपाधिवाले मेरे स्वरूपमें चित्तको लगा देनेसे योगी कालकी सूक्ष्मतारूप* 'लघिमा' सिद्धि प्राप्त करता है।

धारयन्मय्यहंतत्त्वे मनो वैकारिकेऽखिलम्।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं प्राप्तिं प्राप्नोति मन्मनाः॥१३॥

---

* 'स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्' इस उक्तिके अनुसार एक परमाणुका भोग करनेवाला काल ही 'कालसूक्ष्मार्थ' है। अतः लघिमा सिद्धिप्राप्त योगी अत्यन्त सूक्ष्मदेशावच्छिन्न आकाशरूप उपाधिवाला हो जाता है।

सात्त्विक अहंकाररूप मुझ परमात्मामें चित्तकी धारणा करनेसे मेरा ध्यान करनेवाला योगी इन्द्रियोंका अधिष्ठानस्वरूप 'प्राप्ति' सिद्धि पाता है।

महत्यात्मनि यः सूत्रे धारयेन्मयि मानसम्।
प्राकाश्यं पारमेष्ठ्यं मे विन्दतेऽव्यक्तजन्मनः ॥१४॥

जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मामें अपने चित्तको स्थिर करता है वह मुझ अव्यक्तजन्माकी 'प्राकाश्य' नामकी सर्वश्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।

विष्णौ त्र्यधीश्वरे चित्तं धारयेत्कालविग्रहे।
स ईशित्वमवाप्नोति क्षेत्रक्षेत्रज्ञचोदनाम् ॥१५॥

जो त्रिगुणमयी मायाके स्वामी मुझ कालस्वरूप विष्णु भगवान्‌में चित्तकी धारणा करता है वह क्षेत्र (शरीरादि) और क्षेत्रज्ञ (जीव) को अपनी इच्छानुसार प्रेरित कर सकनारूप 'ईशित्व' सिद्धि पाता है। [अर्थात् सृष्टि और संहारादि कर सकता है]।

नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्दशब्दिते।
मनो मय्यादधद्योगी मद्धर्मा वशितामियात् ॥१६॥

जो योगी भगवत्-शब्दसे कहे गये मुझ 'तुरीय' संज्ञक नारायणमें मन लगा देता है वह मेरे स्वभावसे युक्त हुआ योगी 'वशिता' नामकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन्विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते ॥१७॥

१. पा०—'धारयन्'। २. पा०—'क्षेत्रज्ञक्षेत्रचोदनात्'। ३. पा०—'तु तुर्याख्ये'।

मुझ निर्गुण ब्रह्ममें ही अपने निर्मल चित्तको स्थिर कर देनेसे योगी परमानन्दस्वरूपिणी 'प्राकाम्य' नामकी सिद्धि प्राप्त करता है, जिसके मिलनेपर सम्पूर्ण कामनाओंका अन्त हो जाता है।

श्वेतद्वीपपतौ चित्तं शुद्धे धर्ममये मयि।
धारयन् श्वेततां[1] याति षडूर्मिरहितो नरः ॥१८॥

हे उद्धव! मुझ धर्ममय शुद्धस्वरूप श्वेतद्वीपाधिपतिमें चित्तकी धारणा करनेसे योगी [जन्म, मरण, क्षुधा, तृष्णा, शोक और मोहरूप] छः ऊर्मियोंसे मुक्त होकर शुद्धस्वरूपताको प्राप्त हो जाता है।

मय्याकाशात्मनि प्राणे मनसा[2] घोषमुद्वहन्।
तत्रोपलब्धा भूतानां हंसो वाचः शृणोत्यसौ ॥१९॥

समष्टि-प्राणरूप मुझ परमात्मामें मनके द्वारा नादका अनुसन्धान करते रहनेसे प्राणी [दूर-श्रवण नामक सिद्धिसे] आकाशमें उपलब्ध होनेवाली विविध प्राणियोंकी बोलियोंको सुन सकता है।

चक्षुस्त्वष्टरि संयोज्य त्वष्टारमपि चक्षुषि।
मां तत्र मनसा ध्यायन्विश्वं पश्यति सूक्ष्मदृक् ॥२०॥

नेत्रोंका सूर्यसे और सूर्यका नेत्रोंसे संयोग करते हुए उन दोनोंके सम्बन्धके मध्यमें मन-ही-मन मेरा ध्यान करनेसे सूक्ष्मदर्शी योगी [दूर-दर्शन नामकी सिद्धिसे] सारे संसारको देख सकता है।

मनो मयि सुसंयोज्य देहं तदनु वायुना।
मद्धारणानुभावेन तत्रात्मा यत्र वै मनः ॥२१॥

१. पा०—'विष्णुताम्'। २. पा०—'मनसः'।

मन, शरीर और उनके अनुगामी प्राणवायुको मुझमें भली प्रकार जोड़कर मेरी धारणा करनेसे ['मनोजव' सिद्धि मिलती है जिसके प्रभावसे] जहाँ चित्त जाता है वहीं शरीर भी पहुँच जाता है ।

यदा मन उपादाय यद्यद्रूपं बुभूषति ।
तत्तद्भवेन्मनोरूपं मद्योगबलमाश्रयः ॥२२॥

मनको उपादान कारण बनाकर योगी जिस समय जैसे रूपवाला होना चाहता है वैसा ही हो जाता है, क्योंकि वह मेरे योगबलरूप आश्रयसे युक्त होता है ।

परकायं विशन् सिद्ध आत्मानं तत्र भावयेत् ।
पिण्डं हित्वा विशेत् प्राणो वायुभूतः षडङ्घ्रिवत् ॥२३॥

जो योगी पर-शरीरमें प्रवेश करना चाहे वह अपने आत्माकी उसमें भावना करे, ऐसा करनेसे वाह्य वायुरूप हुआ प्राण (प्राणप्रधान लिंगशरीरोपाधिक आत्मा), एक फूलसे दूसरे फूलमें जानेवाले भ्रमरकी भाँति, उसके शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जायगा ।

पार्ष्ण्यापीड्य गुदं प्राणं हृदुरःकण्ठमूर्धसु ।
आरोप्य ब्रह्मरन्ध्रेण ब्रह्म नीत्वोत्सृजेत्तनुम् ॥२४॥

[योगीको यदि शरीर छोड़ना हो तो] एड़ीके द्वारा गुदद्वारको दबाकर प्राण-वायुको क्रमसे हृदय, वक्षःस्थल, कण्ठ और मूर्धामें ले जाकर फिर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा उसे ब्रह्मको प्राप्त कर शरीर त्याग दे ।

विहरिष्यन्सुराक्रीडे मत्स्थं सत्त्वं विभावयेत् ।
विमानेनोपतिष्ठन्ति सत्त्ववृत्तिः सुरस्त्रियः ॥२५॥

देवताओंके विहारस्थलोंमें क्रीडा करनेकी इच्छा हो तो मुझमें स्थित शुद्ध-सत्त्वकी भावना करे, इससे सत्त्ववृत्तिरूपिणी सुर-सुन्दरियाँ विमानादिके सहित उपस्थित हो जाती हैं ।

यथा संकल्पयेद्बुद्ध्या यदा[1] वा मत्परः पुमान् ।
मयि सत्ये[2] मनो युञ्जंस्तथा तत्समुपाश्नुते ॥२६॥

मुझ सत्यस्वरूपमें चित्तको स्थिर करके मेरा ध्यान करनेवाला पुरुष बुद्धिके द्वारा जिस समय जैसा संकल्प करता है, उसे तत्काल वही प्राप्त हो जाता है ।

यो वै मद्भावमापन्न ईशितुर्वशितुः पुमान् ।
कुतश्चिन्न[3] विहन्येत तस्य चाज्ञा यथा मम ॥२७॥

जो पुरुष मुझ सर्वनियन्ता और नित्य-स्वाधीन परमात्मामें अपना चित्त लगा देता है, उसकी आज्ञाका भी मेरी आज्ञाके समान कहीं उल्लंघन नहीं हो सकता ।

मद्भक्त्या शुद्धसत्त्वस्य[4] योगिनो धारणाविदः ।
तस्य त्रैकालिकी बुद्धिर्जन्ममृत्यूपबृंहिता ॥२८॥

मेरी भक्तिके द्वारा जिस धारणापरायण योगीका चित्त शुद्ध हो गया है उसकी बुद्धि त्रिकालदर्शिनी हो जाती है और वह जन्म-मृत्यु आदि अदृष्ट विषयोंको भी जान जाता है ।

अग्न्यादिभिर्न हन्येत मुनेर्योगमयं वपुः ।
मद्योग[5]श्रान्तचित्तस्य यादसामुदकं यथा ॥२९॥

१. पा०—'यथा' । २. पा०—'तत्त्वे' । ३. पा०—'न कुतश्चित्' । ४. पा०—'शुद्धतत्त्वस्य' । ५. पा०—'मय्येव' ।

जैसे जल जल-जन्तुओंका नाश नहीं करता उसी प्रकार जिसका चित्त मुझमें लगे रहनेसे शिथिल हो गया है उसके योगमय शरीरका भी अग्नि आदि किसीसे नाश नहीं होता ।

मद्विभूतीरभिध्यायन् श्रीवत्सास्त्रविभूषिताः ।
ध्वजातपत्रव्यजनैः स भवेदपराजितः ॥३०॥

जो कोई श्रीवत्स और शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि आयुधोंसे विभूषित तथा ध्वजा, छत्र, व्यजन आदिसे अलंकृत मेरे अवतारोंका ध्यान करता है वह अजेय हो जाता है ।

उपासकस्य मामेवं योगधारणया मुनेः ।
सिद्धयः पूर्वकथिता उपतिष्ठन्त्यशेषतः ॥३१॥

इस प्रकार योग-धारणाके द्वारा मेरी उपासना करनेवाले मुनिको पूर्वोक्त समस्त सिद्धियाँ पूर्णतया प्राप्त हो जाती हैं ।

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः ।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥३२॥

जो जितेन्द्रिय, संयमी और प्राणको जीतनेवाला है, निरन्तर मेरी ही धारणा करनेवाले उस मुनिको ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो दुर्लभ हो !

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ।
मया संपद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः ॥३३॥

[किन्तु] उत्तम योगाभ्यासके करते-करते जिसका चित्त

१. पा०—'श्रीवत्सास्त्रविभूषितम्' । २. पा०—'एतान्' ।

मुझमें लग गया है उस योगीके लिये ये सिद्धियाँ व्यर्थ कालक्षेपकी कारण होनेसे विघ्नरूप ही कही गयी हैं।

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥३४॥

इस लोकमें जन्म, ओषधि, तप और मन्त्र आदिसे प्राप्त होनेवाली जितनी सिद्धियाँ हैं उन सभीको पुरुष योगद्वारा प्राप्त कर सकता है, किन्तु योगकी गति (सारूप्य, सालोक्यादि मुक्तियाँ) [मुझमें चित्त लगानेके सिवा] किसी अन्य साधनसे नहीं मिल सकती।

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः।
अहं योगस्य सांख्यस्य धर्मस्य ब्रह्मवादिनाम् ॥३५॥

समस्त सिद्धियोंका तथा ब्रह्मवेत्ताओंके [बतलाये हुए] योग, सांख्य और धर्म आदि साधनोंका एकमात्र मैं ही हेतु, स्वामी और प्रभु हूँ।

अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्।
यथा भूतानि भूतेषु बहिरन्तः स्वयं तथा ॥३६॥

जिस प्रकार गो-घटादि भूतोंमें पाँचों भूत बाहर-भीतर सब ओर स्वयं अवस्थित हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण आवरणोंसे रहित स्वयं मैं ही समस्त प्राणियोंका बाह्य (व्यापक) और आन्तर (अन्तर्यामी) आत्मा हूँ। [अर्थात् साक्षी क्षेत्रज्ञ और साक्ष्य क्षेत्र दोनों मेरे ही स्वरूप हैं।]

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

ॐ

सोलहवाँ अध्याय

विभूतियोंका वर्णन

उद्धव उवाच

त्वं ब्रह्म परमं साक्षादनाद्यन्तमपावृतम् ।
सर्वेषामपि भावानां त्राणस्थित्यप्ययोद्भवः ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो ! आप साक्षात् अनादि, अनन्त और आवरणशून्य परब्रह्म हैं। तथा आप ही समस्त पदार्थोंकी रक्षा, नाश और उत्पत्तिके आदिकारण हैं।

उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयमकृतात्मभिः ।
उपासते त्वां भगवन्याथातथ्येन ब्राह्मणाः ॥ २ ॥

आप समस्त ऊँच-नीच प्राणियोंमें स्थित हैं तथापि अशुद्धबुद्धि पुरुषोंके लिये आप सर्वथा दुर्विज्ञेय हैं; आपकी यथोचित उपासना तो ब्राह्मण ही कर सकते हैं।

येषु येषु च भावेषु भक्त्या त्वां परमर्षयः ।
उपासीनाः प्रपद्यन्ते संसिद्धिं तद्वदस्व मे ॥ ३ ॥

हे नाथ ! जिन-जिन भावोंके द्वारा आपकी भक्तिपूर्वक उपासना करके श्रेष्ठ महर्षिगण सिद्धि प्राप्त करते हैं, वे सब आप मुझसे कहिये।

गूढश्चरसि भूतात्मा भूतानां भूतभावन ।
न त्वां पश्यन्ति भूतानि पश्यन्तं मोहितानि ते ॥ ४ ॥

हे भूतभावन! आप प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं, समस्त प्राणियों-में आप गुप्तरूपसे लीला करते हैं। आप उन सबको देखते हैं तथापि आपकी मायासे मोहित हुए वे आपको नहीं देख पाते।

याः काश्च भूमौ दिवि वै रसायां
विभूतयो दिक्षु महाविभूते।
ता मह्यमाख्याह्यनुभावितास्ते
नमामि ते तीर्थपदाङ्घ्रिपद्मम्॥ ५॥

हे महाविभूते! पृथिवी, स्वर्ग, पाताल तथा दिशान्तरोंमें आपके प्रभावसे युक्त आपकी जो-जो विभूतियाँ हैं वे सब आप मुझसे कहिये, मैं सम्पूर्ण तीर्थोंके आश्रयभूत आपके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ।

श्रीभगवानुवाच

एवमेतदहं पृष्टः प्रश्नं प्रश्नविदां वर।
युयुत्सुना विनशने सपत्नैरर्जुनेन वै॥ ६॥

श्रीभगवान् बोले—हे प्रश्नकर्त्ताओंमें श्रेष्ठ उद्धव! कुरुक्षेत्रमें शत्रुओंसे युद्ध करनेके लिये तत्पर हुए अर्जुनने भी मुझसे यही प्रश्न किया था।

ज्ञात्वा ज्ञातिवधं गर्ह्यमधर्मं राज्यहेतुकम्।
ततो निवृत्तो हन्ताहं हतोऽयमिति लौकिकः॥ ७॥

'मैं मारनेवाला हूँ, ये मरनेवाले हैं' ऐसी लौकिक बुद्धिसे राज्यके लिये जातिबन्धुओंके वधको निन्दनीय पाप समझकर वह युद्धसे उपरत हो गया था।

स तदा पुरुषव्याघ्रो युक्त्या मे प्रतिबोधितः ।
अभ्यभाषत मामेवं यथा त्वं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥

उस समय जब उस युद्धक्षेत्रमें मैंने उस पुरुषसिंहको युक्तिपूर्वक समझाया तो उसने भी तुम्हारे समान ही यह प्रश्न मुझसे किया था ।

अहमात्मोद्धवामीषां भूतानां सुहृदीश्वरः ।
अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः ॥ ९ ॥

हे उद्धव ! मैं इन प्राणियोंका आत्मा, सुहृद् और स्वामी हूँ; ये सब भूत भी मैं ही हूँ और इनकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लयका कारण भी मैं ही हूँ ।

अहं गतिर्गतिमतां कालः कलयतामहम् ।
गुणानां चाप्यहं साम्यं गुणिन्यौत्पत्तिको गुणः ॥१०॥

गतिशीलोंमें गति, कलना (अपने अधीन) करनेवालोंमें काल, गुणोंमें समता तथा गुणियोंमें उनका स्वाभाविक गुण मैं हूँ ।

गुणिनामप्यहं सूत्रं महतां च महानहम् ।
सूक्ष्माणामप्यहं जीवो दुर्जयानामहं मनः ॥११॥

गुणयुक्त वस्तुओंमें मैं सूत्रात्मा[1] हूँ; महानोंमें महत्तत्त्व[2] हूँ, तथा सूक्ष्मोंमें जीव और दुर्जयोंमें मन हूँ ।

हिरण्यगर्भो वेदानां मन्त्राणां प्रणवस्त्रिवृत् ।
अक्षराणामकारोऽस्मि पदानि छन्दसामहम् ॥१२॥

१. क्रियाशक्तिप्रधान प्रथम कार्य । २. ज्ञानशक्तिप्रधान प्रथम कार्य ।

मैं वेदोंका [अध्यापक] हिरण्यगर्भ हूँ, मन्त्रोंमें त्रिवृत् ओंकार हूँ, अक्षरोंमें अकार हूँ तथा छन्दोंमें गायत्री हूँ ।

इन्द्रोऽहं सर्वदेवानां वसूनामस्मि हव्यवाट् ।
आदित्यानामहं विष्णू रुद्राणां नीललोहितः ॥१३॥

सम्पूर्ण देवताओंमें मैं इन्द्र हूँ, अष्ट वसुओंमें अग्नि हूँ, द्वादश आदित्योंमें विष्णु हूँ तथा ग्यारह रुद्रोंमें नीललोहित नामक रुद्र हूँ ।

ब्रह्मर्षीणां भृगुरहं राजर्षीणामहं मनुः ।
देवर्षीणां नारदोऽहं हविर्धान्यस्मि धेनुषु ॥१४॥

मैं ब्रह्मर्षियोंमें भृगु हूँ, राजर्षियोंमें मनु हूँ, देवर्षियोंमें नारद हूँ और धेनुओं (गौओं) में कामधेनु हूँ ।

सिद्धेश्वराणां कपिलः सुपर्णोऽहं पतत्त्रिणाम् ।
प्रजापतीनां दक्षोऽहं पितॄणामहमर्यमा ॥१५॥

सिद्धेश्वरोंमें मैं कपिल हूँ, पक्षियोंमें गरुड़ हूँ, प्रजापतियोंमें दक्ष हूँ और पितृगणमें अर्यमा हूँ ।

मां विद्ध्युद्धव दैत्यानां प्रह्लादमसुरेश्वरम् ।
सोमं नक्षत्रौषधीनां धनेशं यक्षरक्षसाम् ॥१६॥

हे उद्धव ! मुझे दैत्योंमें दैत्यराज प्रह्लाद, नक्षत्र और ओषधियोंमें सोम (क्रमसे चन्द्रमा और सोमरस) तथा यक्ष-राक्षसोंमें कुबेर जानो ।

ऐरावतं गजेन्द्राणां यादसां वरुणं प्रभुम् ।
तपतां द्युमतां सूर्यं[१] मनुष्याणां च भूपतिम् ॥१७॥

१. पा०—'अपि' ।

मैं गजराजोंमें ऐरावत हूँ, जलनिवासियोंमें उनका प्रभु वरुण हूँ, ताप देनेवाले और दीप्तिशालियोंमें सूर्य हूँ तथा मनुष्योंमें राजा हूँ।

उच्चैःश्रवास्तुरङ्गाणां धातूनामस्मि काञ्चनम्।
यमः संयमतां चाहं सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥१८॥

मैं घोड़ोंमें उच्चैःश्रवा, धातुओंमें सुवर्ण, दण्डधारियोंमें यम और सर्पोंमें वासुकि हूँ।

नागेन्द्राणामनन्तोऽहं मृगेन्द्रः शृङ्गिदंष्ट्रिणाम्।
आश्रमाणामहं तुर्यो वर्णानां प्रथमोऽनघ[1] ॥१९॥

हे निष्पाप उद्धवजी! मैं नागराजोंमें शेषनाग, सींग और डाढ़-वाले जन्तुओंमें सिंह, आश्रमोंमें चतुर्थाश्रम (संन्यास) तथा वर्णोंमें आदिवर्ण (ब्राह्मण) हूँ।

तीर्थानां स्रोतसां गङ्गा समुद्रः सरसामहम्।
आयुधानां धनुरहं त्रिपुरघ्नो धनुष्मताम् ॥२०॥

मैं तीर्थ और नदियोंमें गङ्गा, जलाशयोंमें समुद्र, अस्त्र-शस्त्रों-में धनुष तथा धनुर्धरोंमें त्रिपुर-नाशक महादेवजी हूँ।

धिष्ण्यानामस्म्यहं मेरुर्गहनानां हिमालयः।
वनस्पतीनामश्वत्थ[2] ओषधीनामहं यवः[3] ॥२१॥

मैं निवास-स्थानोंमें सुमेरु, दुर्गम स्थानोंमें हिमालय, वनस्प-तियोंमें अश्वत्थ (पीपल) और ओषधियोंमें यव हूँ।

---

१. पा०—'प्रथमो ह्यहम्'। २. पा०—'अश्वत्थम्'। ३. पा०—'यवाः'।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।

पुरोधसां वसिष्ठोऽहं ब्रह्मिष्ठानां बृहस्पतिः ।
स्कन्दोऽहं सर्वसेनान्यामग्रण्यां[1] भगवानजः ॥२२॥

मैं पुरोहितोंमें वसिष्ठ, ब्रह्मिष्ठों (वेदवेत्ताओं) में बृहस्पति, समस्त सेनापतियोंमें स्वामिकार्तिकेय और अग्रणियों (नेताओं) में भगवान् ब्रह्माजी हूँ ।

यज्ञानां ब्रह्मयज्ञोऽहं व्रतानामविहिंसनम् ।
वाय्वग्न्यर्काम्बुवागात्मा शुचीनामप्यहं शुचिः ॥२३॥

मैं यज्ञोंमें ब्रह्मयज्ञ, व्रतोंमें अहिंसा तथा शोधक पदार्थोंमें नित्य शुद्ध वायु, अग्नि, सूर्य, जल, वाणी और आत्मा हूँ ।

योगानामात्मसंरोधो मन्त्रोऽस्मि विजिगीषताम् ।
आन्वीक्षिकी कौशलानां विकल्पः ख्यातिवादिनाम् ॥२४॥

मैं योगोंमें मनोनिरोध, विजयसाधनोंमें मन्त्र, कौशलोंमें आन्वीक्षिकी (आत्मानात्मविवेक) विद्या और ख्यातिवादियोंमें विकल्प हूँ ।

स्त्रीणां तु शतरूपाहं पुंसां स्वायम्भुवो मनुः ।
नारायणो मुनीनां च कुमारो ब्रह्मचारिणाम् ॥२५॥

मैं स्त्रियोंमें शतरूपा, पुरुषोंमें स्वायम्भुव मनु, मुनीश्वरोंमें नारायण और ब्रह्मचारियोंमें सनत्कुमार हूँ ।

धर्माणामस्मि संन्यासः क्षेमाणामबहिर्मतिः ।
गुह्यानां सूनृतं[2] मौनं मिथुनानामजस्त्वहम् ॥२६॥

१. पा०—'सर्वसेनानामग्रणीः' । २. पा०—'सौनृतम्' ।

मैं धर्मोंमें संन्यास*, अभयसाधनोंमें अन्तर्निष्ठा, गुह्योंमें मधुर वचन एवं मौन और मिथुनों (जुड़वाओं) में [स्त्री-पुरुष उभय-रूप] प्रजापति हूँ ।

संवत्सरोऽस्म्यनिमिषामृतूनां मधुमाधवौ ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहं नक्षत्राणां तथाभिजित् ॥२७॥

मैं सावधान रहनेवालोंमें संवत्सर, ऋतुओंमें चैत्र-वैशाख (वसन्त), मासोंमें मार्गशीर्ष (अगहन) और नक्षत्रोंमें अभिजित् हूँ ।

अहं युगानां च कृतं धीराणां देवलोऽसितः ।
द्वैपायनोऽस्मि व्यासानां कवीनां काव्य आत्मवान्॥२८॥

मैं युगोंमें सत्ययुग, धीरों (विवेकियों) में देवल और असित मुनि, व्यासोंमें द्वैपायन तथा कवियोंमें मनस्वी शुक्राचार्य हूँ ।

वासुदेवो भगवतां त्वं तु भागवतेष्वहम् ।
किंपुरुषाणां हनुमान्विद्याध्राणां सुदर्शनः ॥२९॥

---

* कर्म-संन्यास, अथवा एषणात्रयके त्यागद्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंको अभयदान । बाह्य संन्यासकी मुख्यता आश्रमोंकी अपेक्षासे पहले श्लोक १९ में कह चुके हैं ।

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध इस प्रकार है—'विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम्' ।

मैं भगवानोंमें* वासुदेव, भागवतोंमें तुम (उद्धव), किंपुरुषोंमें हनुमान् और विद्याधरोंमें सुदर्शन नामक विद्याधर मैं हूँ।

रत्नानां पद्मरागोऽस्मि पद्मकोशः सुपेशसाम्।
कुशोऽस्मि दर्भजातीनां गव्यमाज्यं हविःष्वहम् ॥३०॥

मैं रत्नोंमें पद्मराग, सुन्दर वस्तुओंमें कमल-कोश, तृणोंमें कुशा और हवियोंमें गो-घृत हूँ।

व्यवसायिनामहं लक्ष्मीः कितवानां छलग्रहः।
तितिक्षास्मि तितिक्षूणां सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३१॥

मैं व्यवसायियोंमें लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति), छलियोंमें छल, तितिक्षुओंमें तितिक्षा और सत्त्वगुणियोंमें सत्त्वगुण हूँ।

ओजः सहो बलवतां कर्मा¹हं विद्धि सात्त्वताम्।
सात्त्वतां नवमूर्तीनामादिमूर्तिरहं परा ॥३२॥

मैं बलवानोंमें उत्साह और पराक्रम, सात्त्वतों (भगवद्भक्तों) में भक्तियुक्त निष्काम कर्म तथा वैष्णवभक्तोंकी पूज्य नवमूर्तियों† में पहली वासुदेव नामकी उत्तम मूर्ति हूँ।

---

* उत्पत्ति, लय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याके जाननेवालेको 'भगवान्' कहते हैं, जैसे कहा है—

उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

१. पा०—'कामः'।

† वैष्णवोंकी पूज्य नव मूर्तियाँ ये हैं—

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, नारायण, हयग्रीव, वराह, नृसिंह और ब्रह्मा।

विश्वावसुः पूर्वचित्तिर्गन्धर्वाप्सरसामहम् ।
भूधराणामहं स्थैर्यं गन्धमात्रमहं भुवः ॥३३॥

मैं गन्धर्वोंमें विश्वावसु और अप्सराओंमें पूर्वचित्ति हूँ तथा पर्वतोंमें स्थिरता और पृथिवीमें गन्ध हूँ ।

अपां रसश्च परमस्तेजिष्ठानां विभावसुः ।
प्रभा सूर्येन्दुताराणां शब्दोऽहं नभसः परः ॥३४॥

मैं जलमें रस, तेजस्वियोंमें महातेजस्वी अग्नि और सूर्य, चन्द्र, तारोंमें प्रभा तथा आकाशमें उसका परम गुण शब्द हूँ ।

ब्रह्मण्यानां बलिरहं वीराणामहमर्जुनः ।
भूतानां स्थितिरुत्पत्तिरहं वै प्रतिसंक्रमः ॥३५॥

मैं ही ब्राह्मणभक्तोंमें बलि, वीरोंमें अर्जुन तथा प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश हूँ ।

गत्युक्त्युत्सर्गोपादानमानन्दस्पर्शलक्षणम्[१] ।
आस्वादश्रुत्यवघ्राणमहं सर्वेन्द्रियेन्द्रियम् ॥३६॥

मैं ही गति, उक्ति, त्याग, ग्रहण, आनन्द और स्पर्शरूप हूँ तथा मैं ही आस्वाद, श्रवण और घ्राण हूँ । अतः मैं समस्त इन्द्रियोंका इन्द्रिय हूँ ।

पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतिरहं महान् ।
विकारः पुरुषोऽव्यक्तं[२] रजः सत्त्वं तमः परम् ॥३७॥

पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज तथा अहंकार,

१. प्राचीन प्रतिमें यह श्लोकार्ध यहाँ नहीं है । २. पा०—'अव्यक्तः' ।

महत्तत्त्व, पञ्च महाभूत, जीव, प्रकृति, सत्त्व, रज, तम और ब्रह्म—ये सब भी मैं ही हूँ।

अहमेतत्प्रसंख्यानं ज्ञानं तत्त्वविनिश्चयः।
मयेश्वरेण जीवेन गुणेन गुणिना विना।
सर्वात्मनापि सर्वेण न भावो विद्यते क्वचित् ॥३८॥

यह तत्त्वोंकी गणना, लक्षणोंद्वारा उनका ज्ञान तथा उनका निश्चय भी मैं ही हूँ। ईश्वर-जीव, गुण-गुणी एवं सर्वात्मा सर्वरूप मेरे अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ कहीं नहीं है।

संख्यानं परमाणूनां कालेन क्रियते मया।
न तथा मे विभूतीनां सृजतोऽण्डानि कोटिशः ॥३९॥

कालान्तरमें परमाणुओंको तो मैं गिन सकता हूँ, किन्तु करोड़ों ब्रह्माण्डोंको रचनेवाला मैं अपनी विभूतियोंको नहीं गिन सकता।

तेजः श्रीः कीर्तिरैश्वर्यं ह्रीस्त्यागः सौभगं भगः।
वीर्यं तितिक्षा विज्ञानं यत्र यत्र स मेंऽशकः ॥४०॥

जिस-जिसमें तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, लज्जा, त्याग, सौन्दर्य, सौभाग्य, पुरुषार्थ, तितिक्षा और विज्ञान आदि श्रेष्ठ गुण हों वह मेरा ही अंश है।

एतास्ते कीर्तिताः सर्वाः संक्षेपेण विभूतयः।
मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते ॥४१॥

ये सब विभूतियाँ मैंने तुमसे संक्षेपसे कह दी हैं; तथापि ये मनोविकार ही हैं क्योंकि वाणीसे कही जाती हैं। [अर्थात् ये

परमार्थवस्तु नहीं हैं, क्योंकि वह तो मन-वाणीकी अविषय है, इनमें तो उसका केवल आभासमात्र है ।]

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान्यच्छेन्द्रियाणि च[1] ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसेऽध्वने ॥४२॥

वाणी, मन, प्राण और इन्द्रियोंको जीतो, बुद्धिको अपने आत्माके द्वारा जीतो; ऐसा करनेसे फिर इस आवागमनके चक्रमें न पड़ोगे ।

यो वै वाङ्मनसी सम्यगसंयच्छन्धिया यतिः ।
तस्य व्रतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥४३॥

जो विचारवान् बुद्धिके द्वारा वाणी और मनका पूर्णतया संयम नहीं करता उसका व्रत, तप और ज्ञान कच्चे घड़ेमें भरे हुए जलके समान क्षीण हो जाता है ।

तस्मान्मनोवचःप्राणान्[2]नियच्छेन्मत्परायणः ।
मद्भक्तियुक्तया बुद्ध्या ततः परिसमाप्यते ॥४४॥

अतः मेरा भक्त मेरी भक्तियुक्त बुद्धिसे वाणी, मन और प्राणका संयम करे । ऐसा कर लेनेपर फिर उसे कुछ और करना नहीं रहता, वह कृतकृत्य हो जाता है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

१. पा०—'प्राणम्' । २. पा०—'वचोमनःप्राणान्' ।

ॐ

सत्रहवाँ अध्याय

वर्णाश्रम-धर्म-निरूपण

उद्धव उवाच

यस्त्वयाभिहितः पूर्वं धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
वर्णाश्रमाचारवतां सर्वेषां द्विपदामपि ॥ १ ॥
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत् ।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष तत्समाख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! आपकी भक्ति ही जिसका स्वरूप है ऐसा जो धर्म आपने वर्णाश्रम-धर्मका आचरण करनेवाले तथा और भी (वर्णाश्रमाचारसे रहित) सब लोगोंके लिये कहा है उसके जिस प्रकार अनुष्ठान करनेसे आपमें मनुष्योंकी भक्ति हो सकती है, सो आप मेरेसे कहिये ?

पुरा किल महाबाहो धर्मं परमकं प्रभो ।
यत्तेन हंसरूपेण ब्रह्मणेऽभ्यात्थ माधवः ॥ ३ ॥[1]
स इदानीं सुमहता कालेनामित्रकर्शन ।
न प्रायो भविता मर्त्यलोके प्रागनुशासितः ॥ ४ ॥

हे प्रभो ! हे माधव ! आपने पूर्वकालमें हंसरूपसे ब्रह्माजीको जिस उत्तम धर्मका उपदेश किया था, हे शत्रुदमन ! अधिक काल हो

---

१. पा०—'तन्मम' ।

जानेके कारण आपका वह अनुशासनरूप धर्म अत्र मर्त्यलोकमें प्रायः प्रचलित नहीं रहा ।

वक्ता कर्ताविता नान्यो धर्मस्याच्युत ते भुवि ।
सभायामपि वैरिञ्च्यां यत्र मूर्तिधराः कलाः ॥ ५ ॥

हे अच्युत ! इस पृथिवीतलपर, और श्रीब्रह्माजीकी सभामें भी, जहाँ कि सम्पूर्ण वेद साक्षात् मूर्तिमान् होकर रहते हैं, आपके इस धर्मका वक्ता, निर्माता और रक्षक दूसरा कोई नहीं है ।

कर्त्राविन्ना प्रवक्त्रा च भवता मधुसूदन ।
त्यक्ते महीतले देव विनष्टं कः प्रवक्ष्यति ॥ ६ ॥

हे मधुसूदन ! इस धर्मके वक्ता, कर्ता और रक्षक आप जब इस पृथिवी-तलको छोड़कर चले जायँगे तब इस मृतप्राय धर्मका और कौन उपदेश करेगा ?

तत्त्वं[1] नः सर्वधर्मज्ञ धर्मस्त्वद्भक्तिलक्षणः ।
यथा यस्य विधीयेत तथा वर्णय मे प्रभो ॥ ७ ॥

अतः हे सर्वधर्मज्ञ प्रभो ! आपकी भक्तिरूप उस परम धर्मका जिसके लिये जैसा विधान है, सो आप मेरे प्रति कहिये ।

श्रीशुक उवाच

इत्थं स्वभृत्यमुख्येन पृष्टः स भगवान्हरिः ।
प्रीतः क्षेमाय मर्त्यानां धर्मानाह सनातनान् ॥ ८ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! अपने निजी और मुख्य

१. पा०—'तत्त्वतः' ।

सेवकके द्वारा इस प्रकार पूछे जानेपर, भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर लोगोंके कल्याणके लिये उन सनातन-धर्मोंका वर्णन करने लगे।

श्रीभगवानुवाच

धर्म्य एष तव प्रश्नो नैःश्रेयसकरो नृणाम्।
वर्णाश्रमाचारवतां तमुद्धव निबोध मे॥९॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! तुम्हारा यह प्रश्न अति धर्ममय है; वर्णाश्रमाचारयुक्त लोगोंके लिये आत्यन्तिक श्रेयःस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है, अतः तुम मुझसे उसका श्रवण करो।

आदौ कृतयुगे वर्णो नृणां हंस इति स्मृतः।
कृतकृत्याः प्रजा जात्या[1] तस्मात्कृतयुगं विदुः॥१०॥

पहले सत्ययुगमें मनुष्योंका हंस-नामक केवल एक ही वर्ण था; क्योंकि उस समय लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे, इसीलिये उसे 'कृतयुग' कहते हैं।

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः॥११॥

उस समय प्रणव ही वेद था और [तप, शौच, दया एवं सत्यरूप चार चरणोंवाला] वृषभरूप मैं ही धर्म था तथा उस समयके निष्पाप और तपोनिष्ठ लोग मेरे शुद्धस्वरूपकी उपासना करते थे।

१. पा०—'यस्मात्'।

त्रेतामुखे[1] महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या[2] अहमासं त्रिवृन्मखः ॥१२॥

फिर हे महाभाग! त्रेतायुगके आगमनपर मेरे ही हृदयसे मेरे श्वास-प्रश्वासके द्वारा [ऋक्, साम और यजुःरूप] वेदत्रयीका आविर्भाव हुआ और उस त्रयीविद्यासे [होता, अध्वर्यु और उद्गाताके कर्म] त्रिवृत्यज्ञरूपसे मैं प्रकट हुआ।

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः।
वैराजात्पुरुषाज्जाता य आत्माचारलक्षणाः ॥१३॥

तथा विराट् पुरुषके मुख, भुजा, ऊरु और चरणोंसे क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णोंकी उत्पत्ति हुई, जिनकी पहचान अपने-अपने आचरणसे ही होती है।

गृहाश्रमो जघनतो ब्रह्मचर्यं हृदो मम।
वक्षःस्थानाद्वने[3] वासो न्यासः शीर्षणि संस्थितः ॥१४॥

इसी प्रकार मुझ विराट् पुरुषकी जंघासे गृहस्थ, हृदयसे ब्रह्मचर्य, वक्षःस्थलसे वानप्रस्थ और मस्तकसे संन्यास—ये चार आश्रम प्रकट हुए।

वर्णानामाश्रमाणां च जन्मभूम्यनुसारिणीः[4]।
आसन्प्रकृतयो[5] नृणां नीचैर्नीचोत्तमोत्तमाः ॥१५॥

इन वर्ण और आश्रमोंके लोगोंके स्वभाव भी इनके जन्मस्थानोंके अनुसार नीचोंसे नीच और उत्तमोंसे उत्तम बने हुए हैं—

१. पा०—'त्रेतायुगे'। २. पा०—'तत्र'। ३. पा०—'वक्षःस्थलाद्वने वासः संन्यासः शिरसि स्थितः'। ४. पा०—'जन्मभूम्यनुचारिणीः'। ५. पा०—'आसन्वै गतयः'।

शमो दमस्तपः शौचं संतोषः क्षान्तिरार्जवम् ।
मद्भक्तिश्च दया सत्यं ब्रह्मप्रकृतयस्त्विमाः ॥१६॥

शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, मेरी भक्ति, दया और सत्य—ये ब्राह्मणवर्णके स्वभाव हैं ।

तेजो बलं धृतिः शौर्यं तितिक्षौदार्यमुद्यमः ।
स्थैर्यं ब्रह्मण्यतैश्वर्यं क्षत्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१७॥

तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, पुरुषार्थ, स्थिरता, ब्रह्मण्यता (ब्राह्मण-भक्ति) और ऐश्वर्य—ये क्षत्रिय-वर्णके स्वभाव हैं ।

आस्तिक्यं दाननिष्ठा च अदम्भो ब्रह्मसेवनम्[1] ।
अतुष्टिरर्थोपचयैर्वैश्यप्रकृतयस्त्विमाः ॥१८॥

आस्तिकता, दानशीलता, दम्भहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धनसञ्चयसे सन्तुष्ट न होना—ये वैश्य-वर्णके स्वभाव हैं ।

शुश्रूषणं द्विजगवां देवानां चाप्यमायया ।
तत्र लब्धेन संतोषः शूद्रप्रकृतयस्त्विमाः ॥१९॥

ब्राह्मण, गौ और देवताओंकी निष्कपट भावसे सेवा करना और उसीसे जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट रहना—ये शूद्र-वर्णके स्वभाव हैं ।

अशौचमनृतं स्तेयं नास्तिक्यं शुष्कविग्रहः ।
कामः क्रोधश्च तर्षश्च[2] स्वभावोऽन्तेवसायिनाम्[3] ॥२०॥

---

१. पा०—'विप्रसेवनम्' । २. पा०—'हर्षः' । ३. पा०—'अन्त्यावसायिनाम्' ।

अपवित्रता, मिथ्याभाषण, चोरी करना, नास्तिकता, व्यर्थ कलह करना, काम, क्रोध और तृष्णा—ये अन्त्यजोंके स्वभाव हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता ।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः ॥२१॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभसे रहित होना और प्राणियोंकी प्रिय और हितकारिणी चेष्टामें तत्पर रहना—ये सब वर्णोंके सामान्य धर्म हैं।

द्वितीयं प्राप्यानुपूर्व्याज्जन्मोपनयनं द्विजः ।
वसन्गुरुकुले दान्तो ब्रह्माधीयीत चाहुतः ॥२२॥

[अब चारों आश्रमोंमें पहले ब्रह्मचारीके धर्म बतलाते हैं—] जातकर्म आदि संस्कारोंके क्रमसे उपनयन-संस्कारद्वारा दूसरा जन्म पाकर द्विज-कुमार (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य-वर्णका बालक) इन्द्रियदमनपूर्वक गुरुके घरमें रहता हुआ, गुरु-द्वारा बुलाये जानेपर वेदका अध्ययन करे।

मेखलाजिनदण्डाक्षब्रह्मसूत्रकमण्डलून् ।
जटिलोऽधौतदद्वासोऽरक्तपीठः कुशान्दधत् ॥२३॥

[ऐसे ब्रह्मचारीको चाहिये कि] मेखला, मृगचर्म, दण्ड, रुद्राक्षकी माला, यज्ञोपवीत, कमण्डलु और स्वतः बढ़ी हुई जटाएँ धारण करे, [शौकीनीके लिये] दाँत और वस्त्रोंको न धोवे, रंगीन आसनपर न बैठे तथा कुशा धारण करे।

स्नानभोजनहोमेषु जपोच्चारे च वाग्यतः ।
न च्छिन्द्यान्नखरोमाणि कक्षोपस्थगतान्यपि ॥२४॥

१. पा०—'अध्यतः'। २. पा०—'मन्त्रोच्चारे'।

स्नान, भोजन, होम, जप और मूत्र-पुरीषोत्सर्गके समय मौन रहे तथा नख एवं कछ (बगल) और उपस्थके बालोंको भी न कटावे।

रेतो नावकिरेज्जातु[1] ब्रह्मव्रतधरः स्वयम्।
अवकीर्णेऽवगाह्याप्सु यतासुस्त्रिपदीं जपेत्॥२५॥

पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए स्वयं कभी वीर्यपात न करे और यदि कभी [असावधानतावश स्वप्नादिमें] हो जाय तो जलमें स्नान करके प्राणायामपूर्वक गायत्रीका जप करे।

अग्न्यर्काचार्यगोविप्रगुरुवृद्धसुरान्[2] शुचिः।
समाहित उपासीत सन्ध्ये च यतवाग्जपन्॥२६॥

प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय मौन होकर गायत्री-का जप करे तथा पवित्र और एकाग्र होकर अग्नि, सूर्य, आचार्य, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्धजन और देवताओंकी उपासना एवं सन्ध्योपासन करे।

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥२७॥

आचार्यको साक्षात् मेरा ही स्वरूप समझे उसका कभी निरादर न करे और न कभी साधारण मनुष्य समझकर उसकी किसी बातकी उपेक्षा या अवहेलना ही करे, क्योंकि गुरु सर्व-देवमय होता है।

सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्।
यच्चान्यदप्यनुज्ञातमुपयुञ्जीत संयतः॥२८॥

---

१. पा०—'न विकिरेत्'। २. पा०—'वृद्धान् सुरानपि'।

सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय जो कुछ भिक्षा मिले अथवा और भी जो कुछ प्राप्त हो गुरुके आगे रख दे और फिर उनकी आज्ञानुसार उसमेंसे लेकर संयमपूर्वक भोजन करे।

शुश्रूषमाण आचार्यं सदोपासीत नीचवत्।
यानशय्यासनस्थानैर्नातिदूरे कृताञ्जलिः ॥२९॥

आचार्यके जाते, लेटते, बैठते और ठहरते समय सदा अति नम्रतासे हाथ जोड़े हुए पास ही उपस्थित रहे और अत्यन्त नीचके समान उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे।

एवंवृत्तो गुरुकुले वसेद्भोगविवर्जितः।
विद्या समाप्यते यावद्बिभ्रद्व्रतमखण्डितम् ॥३०॥

इस प्रकार सब प्रकारके भोगोंसे दूर रहकर जबतक विद्या समाप्त न हो जाय अखण्डित ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता हुआ गुरुकुलमें रहे।

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन्ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रतः ॥३१॥

यदि ब्रह्मलोकको जानेकी इच्छासे इसे, जहाँ मूर्तिमान् वेद रहते हैं उस, महर्लोकमें जानेकी इच्छा हो तो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य लेकर यावज्जीवन वेदाध्ययन करनेके लिये गुरुको अपना शरीर समर्पित कर दे।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धीरुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मषः ॥३२॥

१. पा०—'च न्यसेद्देहम्'।

उस ब्रह्मतेजसे सम्पन्न तथा निष्पाप नैष्ठिक ब्रह्मचारीको चाहिये कि अग्नि, गुरु, आत्मा और समस्त प्राणियोंमें मेरी अभिन्न-भावसे उपासना करे।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ॥३३॥

जो गृहस्थ नहीं हैं उन (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ या संन्यासियों) को चाहिये कि स्त्रियोंको देखना, स्पर्श करना तथा उनसे बातचीत या हँसी-मसखरी आदि करना दूरसे ही त्याग दें और न कभी एकत्रित हुए स्त्री-पुरुषोंको ही देखें।

शौचमाचमनं स्नानं संन्ध्योपासनमार्जवम्[1]।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ॥३४॥
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयमः ॥३५॥

हे यदुकुलनन्दन! शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पृश्य अभक्ष्य और अवाच्यका त्याग, समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखना तथा मन, वाणी और शरीरका संयम—ये धर्म सभी आश्रमोंके हैं।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमलः ॥३६॥

इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला ब्राह्मण अग्निके समान तेजस्वी होता है, तीव्र तपके द्वारा उसकी कर्म-

१. पा०—'सन्ध्योपास्तिमंमार्चनम्'।

वासना दग्ध हो जानेके कारण चित्त निर्मल हो जानेसे वह मेरा भक्त हो जाता है [और अन्तमें परमपदको प्राप्त होता है] ।

अथानन्तरमावेक्ष्यन्यथा जिज्ञासितागमः ।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा स्नायाद् गुर्वनुमोदितः ॥२७॥

इसके अतिरिक्त यदि अपने इच्छित शास्त्रोंका अध्ययन समाप्त कर चुकनेपर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेकी इच्छा हो तो गुरुको दक्षिणा देकर उनकी अनुमतिसे स्नान आदि करे; अर्थात् समावर्तन-संस्कार करके ब्रह्मचर्याश्रमको छोड़ दे ।

गृहं वनं वोपविशेत्प्रव्रजेद्वा द्विजोत्तमः ।
आश्रमादाश्रमं गच्छेन्नान्यथा मत्परश्चरेत् ॥२८॥

श्रेष्ठ ब्रह्मचारीको चाहिये कि ब्रह्मचर्य-आश्रमके उपरान्त गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे अथवा [यदि विरक्त हो तो] संन्यास ले ले । इस प्रकार एक आश्रमको छोड़कर अन्य आश्रम अवश्य ग्रहण करे; मेरा भक्त अन्यथा आचरण कभी न करे । [अर्थात् निराश्रमी रहकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त न हो ।]

गृहार्थी सदृशीं भार्यामुद्वहेदजुगुप्सिताम् ।
यवीयसीं तु वयसा यां सवर्णामनुक्रमात् ॥२९॥

जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता हो वह अपने अनुरूप निष्कलंक कुलकी तथा अवस्थामें अपनेसे छोटी अपने ही वर्णकी कन्यासे विवाह करे अथवा क्रमशः अपनेसे नीचे-नीचेके वर्णोंकी कन्यासे भी विवाह कर सकता है ।

इज्याध्ययनदानानि सर्वेषां च द्विजन्मनाम् ।
प्रतिग्रहोऽध्यापनं च ब्राह्मणस्यैव याजनम् ॥४०॥

यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना—ये धर्म तो सभी द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों) के लिये विहित हैं किन्तु दान लेना, पढ़ाना और यज्ञ कराना—ये केवल ब्राह्मण ही करे ।

प्रतिग्रहं मन्यमानस्तपस्तेजोयशोनुदम् ।
अन्याभ्यामेव जीवेत शिलैर्वा[1] दोषदृक् तयोः ॥४१॥

इनमें भी प्रतिग्रह (दान लेने) को तप, तेज और यशका विघातक समझकर अन्य दो वृत्ति (अध्यापन और यज्ञ कराने) से ही जीविका-निर्वाह करे, अथवा यदि इनमें भी [परावलम्बन और दीनता आदि] दोष दिखलायी दे तो केवल शिलोञ्छवृत्तिसे ही रहे ।

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते ।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥४२॥

यह अति दुर्लभ ब्राह्मण-शरीर क्षुद्र विषय-भोगोंके लिये नहीं है, इसके द्वारा तो जीवनपर्यन्त कठिन तपस्या और अन्तमें अनन्त आनन्दरूप मोक्षका ही सम्पादन करना चाहिये ।

शिलोञ्छवृत्त्या परितुष्टचित्तो
धर्मं महान्तं विरजं जुषाणः ।
मय्यर्पितात्मा गृह एव तिष्ठ-
न्नातिप्रसक्तः समुपैति शान्तिम् ॥४३॥

१. पा०—'शिल्पैः' ।

इस प्रकार जो ब्राह्मण सन्तोषपूर्वक शिलोञ्छवृत्तिसे रहकर अपने अति निर्मल महान् धर्मका निष्कामतासे आचरण करता है वह सर्वतोभावसे मुझे आत्मसमर्पण करके अनासक्त भावसे अपने घरमें ही रहता हुआ अन्तमें परम शान्तिरूप मोक्षपद प्राप्त कर लेता है।

समुद्धरन्ति ये विप्रं सीदन्तं मत्परायणम्।
तानुद्धरिष्ये न चिरादापद्भ्यो नौरिवार्णवात् ॥४४॥

जो कोई ऐसे आपत्तिग्रस्त भक्त ब्राह्मणको कष्टसे निकालते हैं उन्हें मैं भी समस्त विपत्तियोंसे बचा लेता हूँ जैसे कि समुद्रमें डूबते हुए पुरुषको नौका बचा लेती है।

सर्वाः समुद्धरेद्राजा पितेव व्यसनात्प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान् ॥४५॥

विचारवान् राजाको चाहिये कि पिताके समान सम्पूर्ण प्रजाकी और स्वयं अपनी भी इसी प्रकार आपत्तिसे रक्षा करे जिस प्रकार कि यूथपति गजराज अपने यूथके अन्य गजों और स्वयं अपने आपको भी [अपनी ही बुद्धि और बलविक्रमसे] विपत्तियों-से बचा लेता है।

एवंविधो नरपतिर्विमानेनार्कवर्चसा।
विधूयेहाशुभं कृत्स्नमिन्द्रेण सह मोदते ॥४६॥

ऐसा [धर्मपरायण] राजा इस लोकमें सम्पूर्ण दोषोंसे मुक्त होकर अन्त समय सूर्य-सदृश प्रकाशमान विमानपर बैठकर स्वर्ग-लोकको जाता है और वहाँ इन्द्रके साथ सुख भोगता है।

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वापदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४७॥

जिस ब्राह्मणको अर्थ-कष्ट हो वह वैश्यवृत्तिद्वारा व्यापार आदिसे उसको पार करे और यदि फिर भी आपत्तिग्रस्त रहे तो खड्ग धारणकर क्षत्रियवृत्तिका अवलम्बन करे किन्तु किसी भी दशामें नीचसेवारूप श्वानवृत्तिका आश्रय न ले ।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययापदि ।
चरेद्वा विप्ररूपेण न श्ववृत्त्या कथञ्चन ॥४८॥

क्षत्रियको यदि दारिद्र्यसे कष्ट हो तो वह वैश्यवृत्तिसे, मृगया (शिकार) से अथवा ब्राह्मणवृत्ति (पढ़ाने) से निर्वाह करे किन्तु नीचसेवावृत्तिका आश्रय कभी न ले ।

शूद्रवृत्तिं[1] भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम्[2] ।
कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ॥४९॥

इसी प्रकार आपत्तिग्रस्त वैश्य शूद्रवृत्तिरूप सेवाका और शूद्र प्रतिलोम [उच्च वर्णकी स्त्रीमें नीच वर्णके पुरुषसे उत्पन्न] जातिकी चटाई बुनना आदि वृत्तियोंका आश्रय ले । [ये सब विधान आपत्कालके लिये ही हैं ।] आपत्तिसे मुक्त होनेपर लोभपूर्वक नीचवृत्तिका अवलम्बन कोई न करे ।

वेदाध्यायस्वधास्वाहाबल्यन्नाद्यैर्यथोदयम् ।
देवर्षिपितृभूतानि मद्रूपाण्यन्वहं यजेत् ॥५०॥

---

१. पा०—'शूद्रवृत्तिर्भवेत्' । २. पा०—'कारुकटक्रियः' ।

गृहस्थ पुरुषको चाहिये कि वेदाध्ययन (ब्रह्मयज्ञ), स्वधाकार (पितृयज्ञ), स्वाहाकार (देवयज्ञ), बलिवैश्वदेव (भूतयज्ञ), तथा अन्नदान (अतिथियज्ञ) आदिके द्वारा मेरे ही रूप ऋषि, देव, पितर, [मनुष्य] एवं अन्य समस्त प्राणियोंकी यथाशक्ति नित्य पूजा करता रहे ।

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा ।
धनेनापीडयन्भृत्यान्न्यायेनैवाहरेत्क्रतून् ॥५१॥

स्वयं बिना उद्यमके प्राप्त अथवा शुद्ध वृत्तिके द्वारा उपार्जित धनसे, अपने द्वारा जिनका भरण-पोषण होता हो उन लोगोंको कष्ट न पहुँचाकर, न्यायपूर्वक यज्ञादि शुभ कर्म करता रहे ।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥५२॥

अपने कुटुम्बमें ही आसक्त न हो जाय, बड़ा कुटुम्बी होनेपर भी भगवद्भजनमें प्रमाद न करे । बुद्धिमान् विवेकीको उचित है कि दृश्यमान प्रपञ्चके समान अदृश्य स्वर्गादिको भी नाशवान् जाने ।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः ।
अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥५३॥

यह पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादिका संयोग [प्याऊपर इकट्ठे हुए] पथिकोंके संयोगके समान [आगमापायी] है । ये सब सम्बन्धी अपने शरीरके साथ ही छूट जाते हैं, जैसे स्वप्न केवल निद्राकी समाप्तितक ही रहता है ।

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहंकृतः ॥५४॥

ऐसा विचारकर मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि घरोंमें अतिथिके समान ममता और अहंकारसे रहित होकर रहें, आसक्तिवश उनमें लिप्त न हो जायँ ।

कर्मभिर्गृहमेधीयैरिष्ट्वा मामेव भक्तिमान् ।
तिष्ठेद्वनं वोपविशेत्प्रजावान्वा परिव्रजेत् ॥५५॥

गृहस्थोचित कर्मोंके द्वारा मेरा ही पूजन करता हुआ मेरी भक्तिसे युक्त होकर चाहे घरमें रहे चाहे वानप्रस्थ होकर वनमें बसे अथवा यदि पुत्रवान् हो तो [स्त्रीके पालन-पोषणका भार पुत्रको सौंपकर] संन्यास ले ले ।

यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः ।
स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते ॥५६॥

किन्तु जो गृहमें आसक्त है, पुत्रैषणा और वित्तैषणासे व्याकुल है, स्त्रीलम्पट और मन्दमति है वह मूढ़ 'मैं हूँ—मेरा है' इस मोहबन्धनमें बँध जाता है ।

अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजात्मजाः ।
अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः ॥५७॥
एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम् ।
अतृप्तस्ताननुध्यायन्मृतोऽन्धं विशते तमः ॥५८॥

वह सोचता है—'अहो ! मेरे माता-पिता बूढ़े हैं, स्त्री छोटी

अवस्थाके बाल-बच्चोंवाली है, ये बच्चे मेरे बिना अति दीन, अनाथ और दुःखी होकर कैसे जीवेंगे ?' इस प्रकार गृहासक्तिसे विक्षिप्तचित्त हुआ यह मूढ़बुद्धि विषय-भोगोंसे कभी तृप्त न होकर इसी चिन्तामें पड़ा हुआ अन्तमें एक दिन मरकर घोर अन्धकारमें पड़ता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अठारहवाँ अध्याय

वानप्रस्थ और संन्यासीके धर्म

श्रीभगवानुवाच

वनं विविक्षुः पुत्रेषु भार्यां न्यस्य सहैव वा ।
वन एव वसेच्छान्तस्तृतीयं भागमायुषः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो वानप्रस्थ होना चाहे वह अपनी स्त्रीको पुत्रोंके पास छोड़कर अथवा अपने ही साथ रखकर शान्तचित्तसे अपनी आयुके तीसरे भागको वनमें रहकर ही बितावे।

कन्दमूलफलैर्वन्यैर्मेध्यैर्वृत्तिं प्रकल्पयेत् ।
वसीत वल्कलं वासस्तृणपर्णाजिनानि च ॥ २ ॥

वह वनके शुद्ध कन्द, मूल और फलोंसे ही शरीर-निर्वाह करे, वल्कल-वस्त्र धारण करे अथवा तृण, पर्ण और मृगचर्मादिसे काम निकाल ले।

केशरोम[1]नखश्मश्रुमलानि बिभृयाद्दतः ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकालं स्थण्डिलेशयः ॥ ३ ॥

केश, रोम, नख, श्मश्रु (मूछ दाढ़ी) और शरीरके मैल* आदिको बढ़ने दे, दन्तधावन न करे, जलमें घुसकर नित्य त्रिकाल स्नान करे और पृथिवीपर सोवे ।

ग्रीष्मे तप्येत पञ्चाग्नीन्वर्षास्वासारषाड् जले ।
आकण्ठमग्नः शिशिर एवंवृत्तस्तपश्चरेत् ॥ ४ ॥

ग्रीष्ममें पञ्चाग्नि तपे, वर्षाऋतुमें अभ्रावकाश† व्रतका पालन करे, तथा शरदृऋतुमें कण्ठपर्यन्त जलमें डूबा रहे—इस प्रकार घोर तपस्या करे ।

अग्निपक्वं समश्नीयात्कालपक्वमथापि वा ।
उलूखलाश्मकुट्टो वा दन्तोलूखल एव वा ॥ ५ ॥

अग्निसे पके हुए [अन्न आदि] अथवा काल पाकर स्वयं पके हुए [फल आदि] को ओखलीमें अथवा पत्थरसे कूटकर या दाँतोंसे पीसकर खा ले ।

स्वयं संचिनुयात्सर्वमात्मनो वृत्तिकारणम् ।
देशकालबलाभिज्ञो नाददीतान्यदाहृतम् ॥ ६ ॥

---

१. पा०—'लोम' ।

* मैल बढ़ने देनेसे यही तात्पर्य है कि उबटन, तैल आदि न लगावे तथा विशेष देहासक्तिसे शरीरको बहुत मले भी नहीं। साधारण मल तो नित्य त्रिकाल-स्नानसे छूटता ही रहेगा ।

† खुले मैदानमें रहकर वर्षाको अपने शरीरपर लेनेका नाम अभ्रावकाश व्रत है ।

अपने उदर-पोषणके लिये कन्द-मूलादि स्वयं ही संग्रह करके लावे। देश, काल और बलको भली भाँति जाननेवाला मुनि अन्य समय लाये हुए पदार्थका ग्रहण न करे। [अर्थात् मुनि इस बातको जानकर कि अमुक पदार्थ कहाँसे लाना चाहिये, किस समय लाना चाहिये और कौन-कौन पदार्थ अपने अनुकूल हैं स्वयं ही नवीन-नवीन कन्द-मूल-फल आदिका सञ्चय करे, देश, कालादिसे अनभिज्ञ अन्य जनोंके लाये हुए अथवा कालान्तरमें सञ्चय किये हुए पदार्थोंके सेवनसे व्याधि आदिके कारण तपस्यामें विघ्न होनेकी आशंका है।]

वन्यैश्चरुपुरोडाशैर्निर्वपेत् कालचोदितान्[1]।
न तु श्रौतेन पशुना मां यजेत वनाश्रमी ॥ ७ ॥

वन्य कन्द-मूल आदिसे बनाये हुए चरु-पुरोडाशादिसे ही समयोचित आग्रयणादि कर्म करे। वानप्रस्थ हो जानेपर वेदविहित पशुओंद्वारा मेरा यजन न करे।

अग्निहोत्रं च दर्शश्च पूर्णमासश्च[2] पूर्ववत्।
चातुर्मास्यानि च मुनेराम्नातानि च नैगमैः ॥ ८ ॥

हाँ, वेदवेत्ताओंने अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास और चातुर्मास्यादिका तो मुनिके लिये पहलेहीके समान निरूपण किया है।

एवं चीर्णेन तपसा मुनिर्धमनिसंततः।
मां तपोमयमाराध्य ऋषिलोकादुपैति माम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार घोर तपस्याके कारण (मांस सूख जानेसे)

---

१. पा०—'कालचोदितम्'। २. पा०—'पौर्णमासः'।

जिसकी शिराएँ (नसें) दीखने लगी हों वह मुनि मुझ तपोमय-की आराधना करके ऋषिलोकादिमें जाकर फिर वहाँसे कालान्तरमें मुझको प्राप्त कर लेता है।

यस्त्वेतत्कृच्छ्रतश्चीर्णं तपो निःश्रेयसं महत्।
कामायाल्पीयसे युञ्ज्याद्बालिशः कोऽपरस्ततः ॥१०॥

जो कोई इस अति कष्टसाध्य मोक्षफलदायक तपको क्षुद्र फलों [स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक आदि] की कामनासे करता है उससे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा?

यदासौ नियमेऽकल्पो जरया जातवेपथुः।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य मच्चित्तोऽग्निं समाविशेत् ॥११॥

वानप्रस्थी जिस समय अपने आश्रमके नियमोंका पालन करनेमें असमर्थ हो जाय और उसका शरीर वृद्धावस्थाके कारण काँपने लगे तो अग्नियोंको [भावनाद्वारा] अपने अन्तःकरणमें आरोपितकर मेरा स्मरण करता हुआ अग्निमें प्रवेश कर जाय। [यह विधान अविरक्तके लिये है]।

यदा कर्म[1]विपाकेषु लोकेषु निरयात्मसु।
विरागो जायते सम्य[2]ङ् न्यस्ताग्निः प्रव्रजेत्ततः ॥१२॥

और यदि अपने कर्मोंके फलस्वरूप इन नरकतुल्य लोकोंमें उसको पूर्ण वैराग्य हो जाय तो आहवनीय आदि अग्नियोंको त्याग कर संन्यास ग्रहण करे।

इष्ट्वा यथोपदेशं मां दत्त्वा सर्वस्वमृत्विजे।
अग्नीन्स्वप्राण आवेश्य निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥१३॥

१. पा०—'धर्मविपाकेषु'। २ पा०—'हास्य'।

ऐसे विरक्त वानप्रस्थको चाहिये कि वेद-विधिके अनुसार [अष्टकाश्राद्धपूर्वक प्राजापत्ययज्ञसे] मेरा यजन करके अपना सर्वस्व ऋत्विक्को दे दे और अग्नियोंको अपने प्राणमें लीन करके निरपेक्ष होकर स्वच्छन्द विचरे ।

विप्रस्य वै संन्यसतो देवा दारादिरूपिणः ।
विघ्नान्कुर्वन्त्ययं ह्यस्मानाक्रम्य समियात्परम् ॥१४॥

इस विचारसे कि 'यह हमारे लोकको लाँघकर परमधामको जायगा' देवगण स्त्री आदिका रूप धारणकर ब्राह्मणके संन्यास लेते समय विघ्न किया करते हैं । [अतः उस समय सावधान रहना चाहिये ।]

बिभृयाच्चेन्मुनिर्वासः कौपीनाच्छादनं परम् ।
त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत्किञ्चिदनापदि ॥१५॥

यतिको यदि वस्त्र-धारण करनेकी आवश्यकता हो तो एक कौपीन और एक जिससे कौपीन ढक जाय बस इतना ही वस्त्र रक्खे और आपत्कालको छोड़कर दण्ड और कमण्डलुके अतिरिक्त और कोई वस्तु पास न रक्खे ।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्[2] ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥१६॥

पृथिवीको देखकर पैर रक्खे, वस्त्रसे छानकर जल पिये, सत्य-भाषण करे और मनमें भलीभाँति विचारकर कोई काम करे ।

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥१७॥

१. पा०—'विघ्नम्' । २. पा०—'जलं पिबेत्' ।

मौनरूप वाणीका दण्ड, निष्क्रियता (काम्य कर्मोंका त्याग) रूप शरीरका दण्ड और प्राणायामरूप मनका दण्ड—ये तीनों दण्ड जिसके पास नहीं हैं वह केवल बाँसका दण्ड लेनेसे [त्रिदण्डी] संन्यासी नहीं हो सकता।

भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु विगर्ह्यान्वर्जयंश्चरेत्।
सप्तागारानसंक्लृप्तांस्तुष्येल्लब्धेन तावता ॥१८॥

[जातिच्युत अथवा गोघातक आदि] पतित लोगोंको छोड़कर चारों वर्णोंकी भिक्षा करे। अनिश्चित सात घरोंमें माँगे उनसे जो कुछ मिल जाय उससे ही सन्तुष्ट रहे।

बहिर्जलाशयं गत्वा तत्रोपस्पृश्य वाग्यतः।
विभज्य पावितं शेषं भुञ्जीताशेषमाहृतम् ॥१९॥

बस्तीके बाहर जलाशयपर जाकर जल छिड़ककर स्थलशुद्धि करे और [समयपर यदि कोई और भी आ जाय तो उसको भी] बाँटकर बचे हुए सम्पूर्ण अन्नको चुपचाप खा ले। [बचाकर न रक्खे, और न अधिक माँगकर ही लावे]

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः।
आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान्समदर्शनः ॥२०॥

अनासक्त, जितेन्द्रिय, आत्माराम, आत्मप्रेमी, धीर और समदर्शी होकर अकेला ही पृथिवीपर विचरे।

विविक्तक्षेमशरणो मद्भावविमलाशयः।
आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः ॥२१॥

मुनिको चाहिये कि निर्भय और निर्जन देशमें रहे और मेरी भक्तिसे निर्मलचित्त होकर अपने आत्माका मेरे साथ अभेदपूर्वक चिन्तन करे ।

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं मोक्षं च ज्ञाननिष्ठया ।
बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः ॥२२॥

ज्ञाननिष्ठ होकर अपने आत्माके बन्धन और मोक्षका इस प्रकार विचार करे कि इन्द्रियोंकी चञ्चलता ही बन्धन है तथा उनका संयम ही मोक्ष है ।

तस्मान्नियम्य षड्वर्गं मद्भावेन चरेन्मुनिः ।
विरक्तः क्षुद्रकामेभ्यो लब्ध्वात्मनि सुखं महत् ॥२३॥

इसलिये मुनिको चाहिये कि छओं इन्द्रियों (मन एवं पञ्च ज्ञानेन्द्रियों) को जीतकर और समस्त क्षुद्र कामनाओंको छोड़कर अन्तःकरणमें परमानन्दका अनुभव कर निरन्तर मेरी ही भावना करता हुआ स्वच्छन्द विचरे ।

पुरग्रामव्रजान्सार्थान्भिक्षार्थं[1] प्रविशंश्चरेत् ।
पुण्यदेशसरिच्छैलवनाश्रमवतीं महीम् ॥२४॥

केवल भिक्षाके लिये ही पुर, ग्राम, गोष्ठ और यात्रियोंके समुदायमें जाता हुआ पुण्य देश (तीर्थस्थान आदि), नदी, पर्वत, वन और आश्रमादियुक्त भूखण्डमें विचरता रहे ।

वानप्रस्थाश्रमपदेष्वभीक्ष्णं भैक्ष्यमाचरेत् ।
संसिध्यत्याश्वसंमोहः शुद्धसत्त्वः शिलान्धसा ॥२५॥

१. पा०—'सर्वान्' ।

भिक्षा भी अधिकतर वानप्रस्थियोंके स्थानोंसे ही ले, क्योंकि शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त हुए अन्नके खानेसे बहुत शीघ्र ही शुद्ध-चित्त और निर्मोह हो जानेसे सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

नैतद्वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति।
असक्तचित्तो विरमेदिहामुत्र चिकीर्षितात् ॥२६॥

इस नाशवान् दृश्य-प्रपञ्चको कभी वास्तविक न समझे; इसमें अनासक्त रहकर लौकिक और पारलौकिक समस्त काम-नाओं (काम्य कर्मों) से विरक्त हो जाय।

यदेतदात्मनि जगन्मनोवाक्प्राणसंहतम्।
सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत्स्मरेत् ॥२७॥

आत्मामें जो मन, वाणी और प्राणका संघातरूप यह जगत् है वह सब माया ही है—इस प्रकार विचारद्वारा उसका बाध कर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय और फिर उसका स्मरण भी न करे।

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः।
सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः ॥२८॥

जो ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो अथवा किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न करनेवाला मेरा भक्त हो वह आश्रमादिको उनके लिंगों (चिह्नों) के सहित छोड़कर वेद-शास्त्रके विधि-निषेध-बन्धनसे मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरे।

बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान्गोचर्यां नैगमश्चरेत्[1] ॥२९॥

१. पा०—'नैर्ममः'।

वह बुद्धिमान् होकर भी बालकोंके समान क्रीड़ा करे, निपुण होकर भी जडवत् रहे, विद्वान् होकर भी उन्मत्त (पागल) के समान बातचीत करे और सब प्रकार शास्त्रविधिको जानकर भी पशुवृत्तिसे रहे।

वेदवादरतो न स्यान्न पाखण्डी न हैतुकः।
शुष्कवादविवादे न कञ्चित्पक्षं समाश्रयेत् ॥३०॥

उसे चाहिये कि कर्मकाण्डके व्याख्यानादि रूप वेदवादमें प्रेम न रक्खे, पाखण्डी और व्यर्थ तर्कपरायण भी न हो, तथा जहाँ कोरा वाद-विवाद हो वहाँ कोई पक्ष न ले।

नोद्विजेत जनाद्धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु।
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित् ॥३१॥

वह धीर पुरुष अन्य लोगोंसे उद्विग्न न हो और न औरोंको ही अपनेसे उद्विग्न होने दे, निन्दा आदिका सहन करे, किसीका अपमान न करे और इस शरीरके लिये पशुओंके समान किसीसे वैर न करे।

एक एव परो ह्यात्मा भूतेष्वात्मन्यवस्थितः।
यथेन्दुरुदपात्रेषु भूतान्येकात्मकानि च ॥३२॥

जैसे कि एक ही चन्द्रमाके भिन्न-भिन्न जलपात्रोंमें अनेक प्रतिबिम्ब पड़ते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियोंमें और अपनेमें भी एक ही परमात्मा विराजमान है। तथा [अपने कारण पृथिवी-आदि-रूपसे] समस्त देह भी एक ही है।

अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित् ।
लब्ध्वा न हृष्येद् धृतिमानुभयं दैवतन्त्रितम् ॥३३॥

धीर पुरुष कभी-कभी समयपर भिक्षा न मिले तो दुःख न माने और मिल जाय तो प्रसन्न न हो, क्योंकि दोनों ही अवस्थाएँ दैवाधीन हैं ।

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत्प्राणधारणम् ।
तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥३४॥

प्राणरक्षा आवश्यक है इसलिये आहारमात्रके लिये चेष्टा भी करे, क्योंकि प्राण रहेंगे तो तत्त्वचिन्तन होगा और उसके द्वारा आत्मस्वरूपको जान लेनेसे मोक्ष प्राप्त होगा ।

यदृच्छयोपपन्नान्नमद्याच्छ्रेष्ठमुतापरम् ।
तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः ॥३५॥

विरक्त मुनिको उचित है कि दैववशात् जैसा आहार मिल जाय, अच्छा हो या बुरा, उसीको खा ले, इसी प्रकार वस्त्र और बिछौना भी जैसे मिलें वैसोंहीसे काम चला ले ।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनयाचरेत् ।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः ॥३६॥

ज्ञाननिष्ठ परमहंस शौच, आचमन, स्नान तथा अन्य नियमोंको भी शास्त्रविधिके अधीन होकर न करे, बल्कि मुझ ईश्वरके समान केवल लीलापूर्वक करता रहे ।

न हि तस्य विकल्पाख्या या च मद्वीक्षया हता ।
आदेहान्तात्क्वचित् ख्यातिस्ततः संपद्यते मया ॥३७॥

उसके लिये यह विकल्परूप* प्रपञ्च नहीं रहता, वह तो मेरा साक्षात्कार होते ही नष्ट हो जाता है, प्रारब्धवश जबतक देह है तबतक उसकी प्रतीति होती है, उसके पतन होनेपर तो वह मुझमें ही मिल जाता है।

दुःखोदर्केषु कामेषु जातनिर्वेद आत्मवान्।
अजिज्ञासितमद्धर्मो गुरुं मुनिमुपाव्रजेत्[1] ॥३८॥

[यहाँतक सिद्ध ज्ञानीके धर्म कहे, अब जिज्ञासुके कर्तव्य बतलाते हैं।] जिस धीर पुरुषको इन अत्यन्त दुःखमय फलवाली विषय-वासनाओंसे वैराग्य हो गया है और जिसे मेरे भागवत धर्मोंकी भी जिज्ञासा नहीं है, वह किन्हीं विरक्त मुनिवरको गुरु मानकर उनकी शरण जाय।

तावत्परिचरेद्भक्तः श्रद्धावाननसूयकः।
यावद्ब्रह्म विजानीयान्मामेव गुरुमादृतः ॥३९॥

उन गुरुदेवको मेरा ही रूप जानकर वह अति आदरपूर्वक भक्ति और श्रद्धासे तबतक उनकी सेवा-शुश्रूषामें लगा रहे जबतक कि उसको ब्रह्मज्ञान न हो जाय, तथा गुरुकी कभी किसीसे निन्दा न करे।

---

* भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें विकल्पका यह लक्षण किया है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जिसमें केवल शब्दज्ञान ही हो, शब्दसे बतलायी जानेवाली वस्तुका सर्वथा अभाव हो वह विकल्प है। यह संसार भी, जैसा कि श्रुति भी कहती है, वाचारम्भणमात्र अर्थात् शब्दजालरूप ही है, वस्तुतः कुछ नहीं है। इसलिये इसे भी विकल्प कहा है।

१. पा०—'उपव्रजेत्'।

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः ।
ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति ॥४०॥
सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते मां च धर्महा ।
अविपक्वकषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते ॥४१॥

जिसने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छः शत्रुओंको नहीं जीता, जिसके इन्द्रियरूपी घोड़े और बुद्धिरूप सारथी अति प्रचण्ड हो रहे हैं, तथा जो ज्ञान और वैराग्यसे शून्य है तथापि संन्यासीके वेषसे पेट पालता है, वह यतिधर्मका घातक है और अपने यजनीय देवताओंको, अपनेको और अपने अन्तः-करणमें स्थित मुझको ठगता है। जिसकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, ऐसा वह मूढ़ इहलोक और परलोक दोनों ओरसे मारा जाता है।

भिक्षोर्धर्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसः[1] ।
गृहिणो भूतरक्षेज्या द्विजस्याचार्यसेवनम् ॥४२॥

शान्ति और अहिंसा यति (संन्यासी) के मुख्य धर्म हैं, तप और ईश्वरचिन्तन वानप्रस्थके धर्म हैं, प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करना गृहस्थके मुख्य धर्म हैं तथा गुरु-सेवा ही ब्रह्मचारीका परम धर्म है।

ब्रह्मचर्यं तपः शौचं सन्तोषो भूतसौहृदम् ।
गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनम् ॥४३॥

ऋतुगामी गृहस्थके लिये भी ब्रह्मचर्य, तप, शौच, सन्तोष

१. पा०—'वनौकसाम्'।

तथा भूत-दया—ये आवश्यक धर्म हैं और मेरी उपासना करना तो मनुष्यमात्रका परम धर्म है।

इति मां यः स्वधर्मेण भजन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं विन्दतेऽचिरात् ॥४४॥

इस प्रकार स्वधर्मपालनके द्वारा जो सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना रखता हुआ अनन्यभावसे मेरा भजन करता है, वह शीघ्र ही मेरी विशुद्ध भक्ति पाता है।

भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्वलोकमहेश्वरम्।
सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥४५॥

हे उद्धव! मेरी अनपायिनी (जिसका कभी ह्रास नहीं होता, ऐसी) भक्तिके द्वारा वह सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी और सबके उत्पत्ति और लयस्थान, अतः सबके कारणभूत मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

इति स्वधर्मनिर्णिक्तसत्त्वो निर्ज्ञातमद्गतिः।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नो विरक्तः समुपैति माम् ॥४६॥

इस प्रकार स्वधर्मपालनसे जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है और जो मेरे ऐश्वर्यको जान गया है, वह विरक्त पुरुष ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न होकर शीघ्र ही मुझे प्राप्त कर लेता है।

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥४७॥

वर्णाश्रमवालोंके लिये यह आचाररूप धर्म है। मेरी भक्तिसे युक्त होनेपर यही उनके परम निःश्रेयसका कारण हो जाता है।

एतत्तेऽभिहितं साधो भवान्पृच्छति यच्च माम् ।
यथा स्वधर्मसंयुक्तो भक्तो मां समियात्परम् ॥४८॥

हे साधो ! तुमने जो मुझसे पूछा था सो वह सब तुम्हारे प्रति कह दिया कि जिस प्रकार स्वधर्मका पालन करता हुआ भक्त मुझ परब्रह्मको प्राप्त होता है ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

उन्नीसवाँ अध्याय

भक्तिके साधन और यम-नियमादिका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

यो विद्याश्रुतसंपन्न आत्मवान्नानुमानिकः ।
मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! जो [अपरोक्षानुभवरूप] विद्या और शास्त्रसे सम्पन्न है, केवल आनुमानिक परोक्षज्ञान-चर्चा नहीं करता, वह यह जानकर कि 'यह सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्च और इसकी निवृत्तिका साधनरूप वृत्तिज्ञान मायामात्र हैं' उन्हें मुझमें लीन कर दे। [अर्थात् संसार और उसकी निवृत्तिके साधनरूप वृत्तिज्ञान—दोनोंको मुझमें अध्यस्त जाने ।]

ज्ञानिनस्त्वहमेवेष्टः स्वार्थो हेतुश्च संमतः ।
स्वर्गश्चैवापवर्गश्च नान्योऽर्थो मदृते प्रियः ॥ २ ॥

ज्ञानीका तो अभीष्ट पदार्थ, स्वार्थ (फल), उसका साधन तथा स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ मैं ही हूँ; उसको मेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ प्रिय नहीं होता।

ज्ञानविज्ञानसंसिद्धाः[1] पदं श्रेष्ठं विदुर्मम ।
ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम् ॥ ३ ॥

ज्ञान और विज्ञानसे परिपूर्ण सिद्ध पुरुष मेरे परम श्रेष्ठ पदको जानते हैं, इसीलिये ज्ञानी मुझको सबसे अधिक प्रिय है, क्योंकि ज्ञानके द्वारा वह निरन्तर मुझको अपने अन्तःकरणमें धारण करता है।

तपस्तीर्थं जपो दानं पवित्राणीतराणि च ।
नालं कुर्वन्ति तां सिद्धिं[2] या ज्ञानकलया कृता ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञानके एक अंशमात्रसे जो सिद्धि होती है वह तप, तीर्थ, जप, दान अथवा और भी किसी पवित्र साधनसे कभी नहीं हो सकती।

तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव ।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नो भज मां भक्तिभावितः ॥ ५ ॥

इसलिये हे उद्धव ! ज्ञानके सहित अपने आत्मस्वरूपको जानकर तुम ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न हो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करो।

ज्ञानविज्ञानयज्ञेन मामिष्ट्वात्मानमात्मनि ।
सर्वयज्ञपतिं मां वै संसिद्धिं मुनयोऽगमन् ॥ ६ ॥

१. पा०—'सम्बद्धाः'। २. पा०—'शुद्धिम्'।

ज्ञान-विज्ञानरूप यज्ञके द्वारा अपने अन्तःकरणमें आत्मारूप मेरा यजन करके मुनियोंने सिद्धिरूपसे मुझ सर्वयज्ञपतिको ही प्राप्त किया है ।

त्वय्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारो
मायान्तरापतति नाद्यपवर्गयोर्यत् ।
जन्मादयोऽस्य यदमी तव तस्य किं स्यु-
राद्यन्तयोर्यदसतोऽस्ति तदेव मध्ये ॥ ७ ॥

हे उद्धव ! आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन त्रिविध विकारोंका समष्टिरूप शरीर जो तुममें आश्रित है, वह आदि और अन्तमें न रहनेके कारण मायाके अन्तर्गत ही है; इसके जन्म आदिसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध ? [तुम तो इसके अधिष्ठानमात्र हो ।] और असत् वस्तुका तो जैसा आदि और अन्त (असत्) होता है वैसा ही मध्य भी होता है ।

उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैत-
द्वैराग्यविज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते
त्वद्भक्तियोगं च महद्विमृग्यम् ॥ ८ ॥

उद्धवजी बोले—हे विश्वेश्वर ! हे विश्वमूर्ते ! जिस प्रकार वैराग्य और विज्ञानसे युक्त यह सनातन और विशुद्ध ज्ञान सुदृढ हो जाय उसी प्रकार इसे स्पष्ट करके मुझे समझाइये तथा ब्रह्मादिक महापुरुष निरन्तर जिसकी खोजमें रहते हैं उस अपने भक्तियोगका भी वर्णन कीजिये ।

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
संतप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! इस घोर संसार-मार्गमें तापत्रयसे पीडित अतः संताप करनेवाले व्यक्तिके लिये आपके अमृतवर्षी चरणयुगलरूप छत्रके अतिरिक्त मुझे कोई और आश्रय दिखलायी नहीं देता ।

दष्टं जनं संपतितं बिलेऽस्मिन्
कालाहिना क्षुद्रसुखोरुतर्षम् ।
समुद्धरैनं कृपयापवर्ग्यै-
र्वचोभिरासिञ्च महानुभाव ॥१०॥

इस अन्धकूपमें पड़कर काल-व्यालसे डसे जाते हुए तथापि क्षुद्र विषय-सुखकी तीव्र तृष्णासे व्याकुल इस अपने दासका, हे महानुभाव ! कृपा करके, उद्धार कीजिये और अपने मोक्षप्रद वचनामृतसे इसे शान्त कीजिये ।

श्रीभगवानुवाच

इत्थमेतत्पुरा राजा भीष्मं धर्मभृतां वरम् ।*
अजातशत्रुः पप्रच्छ सर्वेषां नोऽनुशृण्वताम् ॥११॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने पूर्वकालमें हम सब लोगोंके सामने ही यह प्रश्न इसी प्रकार धार्मिक-श्रेष्ठ पितामह भीष्मसे पूछा था ।

* प्राचीन प्रतिमें श्लोक १ से ११वें श्लोकके पूर्वार्द्धतकका पाठ नहीं है ।

निवृत्ते भारते युद्धे सुहृन्निधनविह्वलः ।
श्रुत्वा धर्मान्बहून्पश्चान्मोक्षधर्मानपृच्छत ॥१२॥

महाभारतका युद्ध समाप्त हो जानेपर अपने बन्धुओंके विनाशसे व्याकुल महाराज युधिष्ठिरने बहुत-से धर्मोंको सुननेके पश्चात् उन भीष्मजीसे मोक्ष-धर्मोंको पूछा था ।

तानहं तेऽभिधास्यामि देवव्रतमुखाच्छ्रुतान् ।
ज्ञान[1]वैराग्यविज्ञानश्रद्धाभक्त्युपबृंहितान् ॥१३॥

देवव्रत (भीष्मजी) के मुखसे सुने हुए उन्हीं ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, श्रद्धा और भक्तिसे युक्त मोक्ष-धर्मोंको मैं तुम्हें सुनाऊँगा ।

नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै ।
ईक्षेता[2]थैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम् ॥१४॥

जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें देखे हुए [पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्च तन्मात्रा—ये] नौ; मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ; पाँच भूत तथा तीन गुण—ये अट्ठाईस तत्त्व और उनमें [अधिष्ठानरूपसे] अनुगत एक आत्मतत्त्वको भी जाना जाता है वही मेरा निश्चित ज्ञान है ।

एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत् ।
स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम् ॥१५॥

और जब कि उस एक ही आत्मतत्त्वके निरन्तर अपरोक्षानु-भवके कारण अन्य त्रिगुणात्मक भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि दिखलायी न दें तो यही विज्ञान है ।

१. पा०—'ज्ञानविज्ञानवैराग्य०' । २. पा०—'ईक्षितान्वैकमप्येषु' ।

आदावन्ते च मध्ये च सृज्यात्सृज्यं यदन्वियात् ।
पुनस्तत्प्रतिसंक्रामे यच्छिष्येत तदेव सत् ॥१६॥

जो महत्तत्त्वादि कार्यवर्गकी उत्पत्ति, प्रलय और स्थितिमें [उनके कारण और अधिष्ठानरूपसे] एक कार्यसे दूसरे कार्यके अन्तर्गत अनुस्यूत है, तथा उन सबका लय हो जानेपर भी जो बच रहता है वही सत् (ब्रह्म) है ।

श्रुतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं चतुष्टयम् ।
प्रमाणेष्वनवस्थानाद्विकल्पात्स विरज्यते ॥१७॥

शब्द, प्रत्यक्ष, अनुमान और ऐतिह्य (महाजनप्रसिद्धि) इन चारों प्रमाणोंमें अनवस्थित (बाधित) होनेके कारण विज्ञानी पुरुष इस विकल्परूप संसारसे विरक्त हो जाता है ।

कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम् ।
विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् ॥१८॥

कर्म परिणामी हैं और उनसे प्राप्य ब्रह्मलोक आदि भी विकारवान् होनेसे अमंगलरूप ही हैं, अतः विचारवान्को उचित है कि इस लोकके समान परलोकको भी नाशवान् जाने ।

भक्तियोगः पुरैवोक्तः प्रीयमाणाय तेऽनघ ।
पुनश्च कथयिष्यामि मद्भक्तेः कारणं परम् ॥१९॥

हे अनघ ! मैंने भक्तियोगका तो तुमसे पहले ही वर्णन कर दिया है, परन्तु क्योंकि उस ओर तुम्हारी प्रीति बढ़ी हुई है इसलिये अब मैं तुम्हें अपनी भक्तिके परम साधन फिर बतलाता हूँ ।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥२०॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥२१॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥२२॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥२३॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥२४॥

मेरी अमृतमयी कथाओंमें श्रद्धा रखना, निरन्तर मेरा नाम-संकीर्तन करना, मेरी पूजामें अत्यन्त तत्परता रखना, स्तुतियोंद्वारा मेरा स्तवन करना, मेरी सेवामें प्रेम रखना, सम्पूर्ण अङ्गोंसे मुझे प्रणाम करना, मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा करना, समस्त प्राणियोंमें मुझको देखना, मेरे ही लिये सम्पूर्ण अंगोंकी चेष्टा करना, वाणीद्वारा मेरे ही गुण गाना, मुझहीमें मन लगाना, सब कामनाओं-को छोड़ देना, मेरे लिये धन, भोग और सुखको त्याग देना तथा जो कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत और तप किया जाय उसे मेरे लिये ही करना—हे उद्धव ! इन्हीं धर्मोंका पालन करते हुए आत्मसमर्पण करनेवाले लोगोंके हृदयमें मेरी भक्तिका प्रादुर्भाव होता है; फिर भला उनको और किस पदार्थकी इच्छा रह सकती है ?

यदात्मन्यर्पितं चित्तं शान्तं सत्त्वोपबृंहितम् ।
धर्मं ज्ञानं सवैराग्यमैश्वर्यं चाभिपद्यते ॥२५॥

इस प्रकार जब सत्त्वगुणके उद्रेकसे शान्त हुआ चित्त आत्मामें लगाया जाता है तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य स्वयं प्राप्त हो जाते हैं ।

यदर्पितं तद्विकल्पे इन्द्रियैः परिधावति ।
रजस्वलं चासन्निष्ठं चित्तं विद्धि विपर्ययम् ॥२६॥

और यदि वही चित्त विकल्परूप संसारमें लगा दिया जाता है तो वह इन्द्रियोंके द्वारा उसीमें दौड़ता है । इस प्रकारके रजोगुणप्रधान और मिथ्या पदार्थोंमें प्रीति रखनेवाले चित्तको ही विपर्यय (अधर्मादिकी प्राप्ति) का हेतु जानो ।

धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ॥२७॥

जिससे मेरी भक्ति होती हो वही धर्म है, ऐकात्म्य-दर्शन ही ज्ञान है, गुण-रूप विषयोंमें अनासक्त रहना ही वैराग्य है और अणिमादि सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य हैं ।

उद्धव उवाच

यमः कतिविधः प्रोक्तो नियमो वारिकर्शन ।
कः शमः को दमः कृष्ण का तितिक्षा धृतिः प्रभो ॥२८॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे शत्रुदमन ! यम कितने प्रकारके हैं ?

१. पा०—'वा प्रपद्यते' ।

तथा नियम कौन-कौनसे हैं ? हे कृष्ण ! हे प्रभो ! शम क्या है ? दम क्या है ? तितिक्षा क्या है ? और धैर्य किसे कहते हैं ?

किं दानं किं तपः शौर्यं किं सत्यमृतमुच्यते ।
कस्त्यागः किं धनं चेष्टं को यज्ञः का च दक्षिणा ॥२९॥

दान क्या है ? तप क्या है ? और शूरवीरता क्या है ? सत्य और ऋत किसे कहते हैं ? त्याग क्या है ? धन और इष्ट क्या है ? तथा यज्ञ और दक्षिणा किसे कहते हैं ?

पुंसः किंस्विद्बलं श्रीमन्भगो लाभश्च केशव ।
का विद्या ह्रीः परा का श्रीः किं सुखं दुःखमेव च ॥३०॥

हे श्रीमन् ! पुरुषका बल क्या है ? और हे केशव ! भग अर्थात् कल्याण तथा परमलाभ क्या है ? उत्तम विद्या, उत्तम लज्जा और उत्तम श्री क्या है ? तथा सुख और दुःख क्या है ?

कः पण्डितः कश्च मूर्खः कः पन्था उत्पथश्च कः ।
कः स्वर्गो नरकः कः स्वित्को बन्धुरुत किं गृहम् ॥३१॥

पण्डित कौन है ? मूर्ख किसे कहते हैं ? तथा सुमार्ग और कुमार्ग क्या हैं ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? तथा बन्धु और घर क्या है ?

क आढ्यः को दरिद्रो वा कृपणः कः क ईश्वरः ।
एतान्प्रश्नान्मम ब्रूहि विपरीतांश्च सत्पते ॥३२॥

धनवान् कौन है ? निर्धन कौन है ? कृपण किसको कहते हैं ? तथा ईश्वर [अर्थात् समर्थ और स्वाधीन]

कौन है ? हे सत्पुरुषोंके प्रभो ! मेरे इन प्रश्नोंका वर्णन कीजिये और इनके विपरीत अशम आदिकी भी व्याख्या कीजिये ।

श्रीभगवानुवाच

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम् ॥३३॥
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ॥३४॥
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः ।
पुंसामुपासितास्तात यथाकामं दुहन्ति हि ॥३५॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), असंगता, ह्री (लज्जा), असञ्चय (आवश्यकतासे अधिक धन आदि न जोड़ना), आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन (वाक्यसंयम), स्थिरता, क्षमा और अभय; तथा [बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका] शौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, अतिथि-सेवा, मेरा पूजन, तीर्थ-भ्रमण, परोपकार, सन्तोष और गुरुसेवा—ये बारह-बारह यम और नियम कहे गये हैं, हे तात ! इनका पालन करनेसे पुरुषकी सब कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं ।

शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियसंयमः ।
तितिक्षा दुःखसंमर्षो जिह्वोपस्थजयो धृतिः ॥३६॥

बुद्धिका मुझमें लग जाना शम है, इन्द्रियदमनको दम कहते हैं, दुःख-सहनका नाम तितिक्षा है तथा जिह्वा और उपस्थेन्द्रियका निग्रह ही धैर्य है ।

दण्डन्यासः परं दानं कामत्यागस्तपः स्मृतम् ।
स्वभावविजयः शौर्यं[1] सत्यं च समदर्शनम् ॥३७॥

भूतद्रोहका त्याग ही परमदान है, कामनाओं (भोगों) का त्याग परम तप है, वासनामयी चित्तवृत्तियोंको वशीभूत करना ही शूरवीरता है और सबमें समदर्शन ही परम सत्य है ।

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्तिता ।
कर्मस्वसंगमः शौचं त्यागः संन्यास उच्यते ॥३८॥

नम्र और मधुर वाणीको ही विद्वान् लोग ऋत कहते हैं, कर्मोंमें आसक्ति न रखना ही शौच है और [कर्मोंका] त्याग ही संन्यास कहा जाता है ।

धर्म इष्टं धनं नृणां यज्ञोऽहं भगवत्तमः ।
दक्षिणा ज्ञानसन्देशः प्राणायामः परं बलम् ॥३९॥

धर्म ही मनुष्योंका इष्ट धन है, परम ऐश्वर्यसम्पन्नोंमें श्रेष्ठ मैं [यज्ञपुरुष] ही यज्ञ हूँ, ज्ञानोपदेश ही वास्तविक दक्षिणा है और प्राणायाम ही परम बल है ।

भगो म ऐश्वरो[2] भावो लाभो मद्भक्तिरुत्तमः ।
विद्यात्मनि भिदाबाधो जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु ॥४०॥

मेरा ऐश्वर्य ही भग है, मेरी उत्तम भक्तिका प्राप्त होना ही परम लाभ है, आत्मा और परमात्मामें भेद-बुद्धिका न रहना ही विद्या है तथा दुष्कर्मोंसे दूर रहना ही ह्री (लज्जा) है ।

---

१. पा०—'सत्यं शौर्यञ्च' ।

२. पा०—'महेश्वरः' ।

श्रीर्गुणा नैरपेक्ष्याद्याः सुखं दुःखसुखात्ययः ।
दुःखं कामसुखापेक्षा पण्डितो बन्धमोक्षवित् ॥४१॥

निरपेक्षता आदि गुण ही श्री हैं, सुख-दुःखसे परे हो जाना ही परम सुख है, विषय-सुखकी अपेक्षा ही दुःख है और जो बन्ध और मोक्षको जानता है वही पण्डित है।

मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः पन्था मन्निगमः स्मृतः ।
उत्पथश्चित्तविक्षेपः स्वर्गः सत्त्वगुणोदयः ॥४२॥

देह आदिमें अहंबुद्धि (मैं-पन) रखनेवाला ही मूर्ख है, शास्त्र ही मेरी प्राप्तिका मार्ग है, चित्त-विक्षेप ही कुमार्ग है और सत्त्वगुणका उदय होना ही स्वर्ग है।

नरकस्तम उन्नाहो बन्धुर्गुरुरहं सखे ।
गृहं शरीरं मानुष्यं गुणाढ्यो ह्याढ्य उच्यते ॥४३॥

तमोगुणका बढ़ना ही नरक है, तथा हे मित्र ! गुरुरूपसे मैं ही बन्धु हूँ, मनुष्य-शरीर ही घर है और गुणवान् ही सच्चा धनवान् है।

दरिद्रो यस्त्वसंतुष्टः कृपणो योऽजितेन्द्रियः ।
गुणेष्वसक्तधीरीशो गुणसंगो विपर्ययः ॥४४॥

जो असन्तुष्ट है वही निर्धन है, जो अजितेन्द्रिय है वही कृपण (दीन) है, जो विषयोंमें अनासक्त है वही ईश्वर अर्थात् स्वाधीन है और [इसके विपरीत] जो विषयी है वही अनीश्वर अर्थात् पराधीन है। [इसी प्रकार अशम आदि अन्य विपर्ययोंके विषयमें समझना चाहिये]

एत उद्धव ते प्रश्नाः सर्वे साधु निरूपिताः ।
किं वर्णितेन बहुना लक्षणं गुणदोषयोः ।
गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः ॥४५॥

हे उद्धव ! इस प्रकार तुम्हारे समस्त प्रश्नोंका मैंने भलीभाँति निरूपण कर दिया । और गुण-दोषके लक्षणोंका अधिक क्या वर्णन किया जाय; इतनेहीमें समझ लो कि गुण-दोषका देखना ही दोष है और इन दोनोंका न देखना ही गुण है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

बीसवाँ अध्याय

ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका वर्णन

उद्धव उवाच

विधिश्च प्रतिषेधश्च निगमो हीश्वरस्य ते ।
अवेक्षतेऽरविन्दाक्ष गुणं दोषं च कर्मणाम् ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे कमलनयन ! आपकी आज्ञारूप श्रुति भी विधि-निषेध-रूप होनेसे कर्मोंके गुण और दोषोंको देखती ही है ।

वर्णाश्रमविकल्पं च प्रतिलोमानुलोमजम् ।
द्रव्यदेशवयःकालान्स्वर्गं नरकमेव च ॥ २ ॥

वह वर्णाश्रम-भेद, प्रतिलोमज [नीच जातिके पुरुषसे उच्च जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुई सन्तान] और अनुलोमज [उच्च जातिके

पुरुषसे नीच जातिकी स्त्रीमें उत्पन्न हुई सन्तान] तथा द्रव्य, देश, अवस्था, काल, स्वर्ग और नरकका भी विचार करती ही है।

गुणदोषभिदादृष्टिमन्तरेण वचस्तव।
निःश्रेयसं कथं नृणां निषेधविधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

तथा आपका विधि-निषेधमय वाक्य-रूप वेद भी बिना गुण-दोषमयी भेद-दृष्टिके किस प्रकार मनुष्योंका कल्याण कर सकता है ?

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुस्तवेश्वर।
श्रेयस्त्वनुपलब्धेऽर्थे साध्यसाधनयोरपि ॥ ४ ॥

हे स्वामिन् ! आपका वाक्य वेद ही पितृगण, देवगण और मनुष्योंका श्रेष्ठ नेत्र (धर्माधर्ममें प्रमाण) है, अदृष्ट विषय जो स्वर्ग-अपवर्ग आदि हैं उनकी तथा साध्य और साधनकी उपलब्धि वेदहीसे तो होती है।

गुणदोषभिदादृष्टिर्निगमात्ते[1] न हि स्वतः।
निगमेनापवादश्च[2] भिदाया इति ह भ्रमः ॥ ५ ॥

हे प्रभो ! यह गुण-दोषमयी भेद-दृष्टि तो आपकी आज्ञा-रूप श्रुतिसे ही प्राप्त होती है, यह स्वतःसिद्ध नहीं है; तथापि श्रुतिसे ही भेददृष्टिका बाध भी होता है। अतः [इस विरोधके कारण] मुझको भ्रम हो रहा है [कृपया उसे दूर कीजिये]।

श्रीभगवानुवाच

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥ ६ ॥

१. पा०—'नियमात्'। २. पा०—'नियमेन'।

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग—यह तीन योग (उपाय) मैंने ही कहे हैं; इनके अतिरिक्त [मोक्ष-प्राप्तिका] और कोई उपाय कहीं नहीं है ।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥ ७ ॥

कर्मोंसे विरक्त होकर उनका त्याग कर देनेवाले पुरुषोंके लिये ज्ञानयोग है, और जिनको उनमें वैराग्य नहीं है उन सकाम पुरुषोंके लिये कर्मयोग है ।

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ ८ ॥

इनके अतिरिक्त सौभाग्यवश जिसे मेरी कथा-श्रवण आदिमें श्रद्धा हो गयी है और जो न अति विरक्त है और न अति आसक्त, उस पुरुषको भक्तियोगसे ही सिद्धि प्राप्त हो जायगी ।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥ ९ ॥

जबतक कि कर्मोंसे वैराग्य न हो अथवा मेरी कथा आदिके श्रवण-कथनमें श्रद्धा न हो तबतक कर्मोंको करता रहे ।

स्वधर्मस्थो यजन्यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ॥१०॥
अस्मिँल्लोके वर्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ॥११॥

हे उद्धव ! जो पुरुष स्वधर्मका पालन करता हुआ कर्मफलकी आशा न रखकर यज्ञादि कर्म करता रहता है वह, यदि काम्य और निषिद्ध कर्म न करे, तो न स्वर्गको जाता है और न नरकको । वह स्वधर्ममें तत्पर रहनेवाला पुरुष निष्पाप और पवित्र होकर इसी लोक (मनुष्यदेह) में अपने प्रारब्धानुसार या तो विशुद्ध आत्मज्ञान प्राप्त करता है या मेरी भक्ति पाता है ।

स्वर्गिणोऽप्येतमिच्छन्ति लोकं निरयिणस्तथा ।
साधकं ज्ञानभक्तिभ्यामुभयं तदसाधकम् ॥१२॥

स्वर्गवासी देवगण तथा नारकी जीव दोनों ही इस मनुष्य-देहकी इच्छा करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान और भक्ति दोनोंका साधक है और उन (स्वर्गीय एवं नारकी) शरीरोंसे इनमेंसे किसीका साधन नहीं हो सकता ।

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः ।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात्प्रमाद्यति ॥१३॥

किन्तु विवेकी पुरुषको चाहिये कि न तो स्वर्गीय गतिकी इच्छा करे न नारकी गतिकी और न इस मनुष्य-शरीरकी पुनः प्राप्तिकी ही इच्छा करे, क्योंकि देहमें आस्था हो जानेसे मनुष्य [परमार्थ-साधनमें] प्रमाद करने लगता है ।

एतद्विद्वान्पुरा[1] मृत्योरभवाय घटेत सः ।
अप्रमत्त इदं ज्ञात्वा मर्त्यमप्यर्थसिद्धिदम् ॥१४॥

देहपातके पूर्व ही सावधानतापूर्वक यह जान लेनेसे कि यह मनुष्य-देह नाशवान् होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधक है, इस देहसे अपुनर्भवरूप मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

१. पा०—'एवं विद्वान्' ।

छिद्यमानं यमैरेतैः कृतनीडं वनस्पतिम् ।
खगः स्वकेतमुत्सृज्य क्षेमं याति ह्यलम्पटः ॥१५॥

जिसमें घोसला बनाया हुआ है ऐसे [इस देहरूप] वृक्षको यमराजके द्वारा काटे जानेपर इसमें रहनेवाला जीवरूपी पक्षी अनासक्त भावसे छोड़कर आनन्दपूर्वक चला जाता है ।

अहोरात्रैश्छिद्यमानं बुद्ध्वायुर्भयवेपथुः ।
मुक्तसङ्गः परं बुद्ध्वा निरीह उपशाम्यति ॥१६॥

दिन और रात हमारी आयुको काट रहे हैं—यह जानकर जो भयसे काँप रहा है वह व्यक्ति अपने परम आत्मस्वरूपको जान लेनेपर इसमें अनासक्त और [इसकी रक्षामें] चेष्टाहीन होकर शान्त हो जाता है ।

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत्स आत्महा ॥१७॥

यह मनुष्य-शरीर आद्य अर्थात् समस्त शुभ फलोंकी प्राप्तिका आदिकारण है, यह [सुकर्मियोंको] सुलभ और [दुष्कर्मियोंको] अति दुर्लभ है, संसार-सागरसे पार होनेके लिये सुदृढ़ नौकारूप है, गुरु ही इसके कर्णधार हैं, तथा अनुकूल वायुरूप मेरे द्वारा ही प्रेरित होकर यह नौका पार लग जाती है—ऐसे इस शरीरको पाकर भी जो पुरुष संसार-समुद्रसे पार नहीं होता वह आत्मघाती ही है ।

यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः ।
अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः ॥१८॥

जिस समय कर्मकी प्रवृत्तिसे उदासीन और विरक्त हो जाय उस समय योगीको चाहिये कि इन्द्रियोंका संयम करके आत्म-चिन्तनके अभ्यासद्वारा अपने चित्तको स्थिर करे ।

धार्यमाणं मनो यर्हि भ्राम्यदाश्वनवस्थितम् ।
अतन्द्रितोऽनुरोधेन मार्गेणात्मवशं नयेत् ॥१९॥

जब स्थिर करते समय मन चञ्चल होकर इधर-उधर भटकने लगे तो उसे सावधानीसे अनुरोधपूर्वक [अर्थात् उसकी इच्छाको कुछ-कुछ पूरी करते हुए] युक्तिसे अपने वशमें कर ले ।

मनोगतिं न विसृजेज्जितप्राणो जितेन्द्रियः ।
सत्त्वसंपन्नया बुद्ध्या मन आत्मवशं नयेत् ॥२०॥

मनकी स्वच्छन्द गतिको खुली न छोड़े, बल्कि प्राण और इन्द्रियोंको जीतकर सात्त्विक बुद्धिद्वारा उसे अपने अधीन कर ले ।

एष वै परमो योगो मनसः संग्रहः स्मृतः ।
हृदयज्ञत्वमन्विच्छन्दम्यस्येवार्वतो मुहुः ॥२१॥

घोड़ेकी गतिको स्वेच्छानुकूल करनेकी इच्छासे जिस प्रकार [साईस] उसे बार-बार फुसलाकर [इच्छानुसार जाने देकर और फिर लगाम खींचकर] अपने वशमें कर लेता है, उसी प्रकार यह अनुरोधपूर्वक मनका निग्रह करना भी परम योग माना गया है ।

सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।
भवाप्ययावनुध्यायेन्मनो यावत्प्रसीदति ॥२२॥

सांख्य-विधिसे सब पदार्थोंके उद्भव और प्रलयका अनुलोम-प्रतिलोम-विधिसे तबतक चिन्तन करता रहे जबतक कि मन शान्त न हो जाय।

निर्विण्णस्य विरक्तस्य पुरुषस्योक्तवेदिनः।
मनस्त्यजति दौरात्म्यं[1] चिन्तितस्यानुचिन्तया ॥२३॥

इस प्रकार गुरुके बतलाये हुए आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेनेवाले उदासीन और विरक्त पुरुषका चित्त उस चिन्तित [आत्मतत्त्व] का ही पुनः-पुनः चिन्तन करनेसे अपने दौरात्म्य (अनात्म-देहादिमें आत्म-बुद्धिसे उत्पन्न चित्तकी चञ्चलता) को छोड़ देता है।

यमादिभिर्योगपथैरान्वीक्षिक्या च विद्यया।
ममार्चोपासनाभिर्वा नान्यैर्योग्यं[2] स्मरेन्मनः ॥२४॥

मनुष्यको चाहिये कि यमादि योग-साधनोंसे [सदसद्विवेक अथवा महावाक्यविचाररूप] आन्वीक्षिकी (ब्रह्म-) विद्यासे और मेरी प्रतिमाकी उपासनासे ही मनके द्वारा मेरा स्मरण करे; इनके अतिरिक्त और किसी मार्गका आश्रय लेना उचित नहीं है।

यदि कुर्यात्प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत्तत्र कदाचन ॥२५॥

यदि प्रमादवश योगीसे कोई निन्दनीय कर्म हो जाय तो उसके पापका योगसे ही प्रायश्चित्त करे, उसके लिये किसी अन्य साधनका अवलम्बन न करे।

---

१. पा०—'दौर्भाग्यम्'। २. पा०—'योगम्'।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
कर्मणां जात्यशुद्धानामनेन नियमः कृतः ।
गुणदोषविधानेन सङ्गानां त्याजनेच्छया ॥२६॥

अपने-अपने अधिकारमें जो निष्ठा रखना है वही गुण बतलाया है । वेदमें गुण-दोषका विधान करके जन्मसे ही अशुद्ध [अर्थात् असत् प्रवृत्तिके कारण होनेवाले] पाप-कर्मोंके त्यागका नियम उनकी आसक्तिको छुड़ानेकी इच्छासे ही किया है ।

जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु ।
वेद दुःखात्मकान्कामान्परित्यागेऽप्यनीश्वरः ॥२७॥
ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः ।
जुषमाणश्च तान्कामान्दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥२८॥

जिसको मेरी कथाओंमें श्रद्धा है तथा अन्य कर्मोंसे वैराग्य है वह यद्यपि सम्पूर्ण कामनाओंको दुःखरूप जानता है तो भी उन्हें छोड़नेमें असमर्थ होता है । ऐसी स्थितिमें उसे चाहिये कि उन कर्मोंको परिणाममें दुःखमय जानकर उनकी निन्दा करते हुए उनका अनुष्ठान करे और श्रद्धासम्पन्न तथा दृढ़ निश्चयवाला होकर प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करे ।

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥२९॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥३०॥

१. पा०—'विधिना यस्य भजतो मां महामते' ।

इस प्रकार पूर्वोक्त भक्तियोगसे मेरा निरन्तर भजन करनेवाले मुनिके हृदयमें मेरे स्थित होनेपर उसकी समस्त हृदयस्थित वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं; मुझ सर्वात्माका साक्षात्कार होनेपर, उसकी हृदय-ग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय निवृत्त हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो जाते हैं।

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः[1]।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥३१॥

इसीलिये मेरी भक्तिसे युक्त मत्परायण योगीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायः श्रेयके साधक नहीं होते।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥३२॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति ॥३३॥

कर्मसे, तपसे, ज्ञानसे, वैराग्यसे, योगसे, दानधर्मसे तथा अन्यान्य श्रेय-साधनोंसे जो कुछ स्वर्ग, अपवर्ग अथवा मेरा परमधाम आदि प्राप्त होता है वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्तिके ही द्वारा सुगमतासे प्राप्त कर सकता है।

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥३४॥

किन्तु मुझमें अनन्य प्रेम रखनेवाले धीर और साधु भक्त मेरे

1. पा०—'महात्मनः'।

देनेपर भी कैवल्य अथवा अपुनर्भव आदि किसीकी इच्छा भी नहीं करते।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्[1]।
तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ॥३५॥

निरपेक्षता अर्थात् निष्कामताको ही परम निःश्रेयस कहा है इसलिये निष्काम और निरपेक्ष पुरुषको ही मेरी भक्ति प्राप्त होती है।

न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम् ॥३६॥

मेरे अनन्य भक्तोंको और बुद्धिसे अतीत परम तत्त्वको प्राप्त हुए समदर्शी महात्माओंको गुण-दोष-दृष्टिसे होनेवाले विकार नहीं होते।

एवमेतान्मयादिष्टाननुतिष्ठन्ति मे पथः।
क्षेमं विन्दन्ति मत्स्थानं यद्ब्रह्म परमं विदुः ॥३७॥

इस प्रकार जो मेरे बतलाये हुए उपायोंका अवलम्बन करते हैं वे मेरे क्षेममय धामको प्राप्त होते हैं और जो परब्रह्म है उसे भी जान लेते हैं।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥



१. पा०—'अकल्पकम्'।

ॐ

इक्कीसवाँ अध्याय

द्रव्य और देश आदिके गुण-दोषोंका वर्णन

श्रीभगवानुवाच

य एतान्मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान् ।
क्षुद्रान्कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरी प्राप्तिके भक्ति, ज्ञान और कर्मरूप तीनों मार्गोंको छोड़कर जो लोग अपनी अस्थिर इन्द्रियोंसे क्षुद्र भोगोंको भोगते हैं वे पुनः-पुनः आवागमनके चक्रमें पड़ते हैं ।

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चयः ॥ २ ॥

अपने-अपने अधिकारमें जो दृढ़तापूर्वक स्थित रहना है वही गुण है और इसके विपरीत [अनधिकार चेष्टा करना] ही दोष है । गुण और दोषका यही निश्चय है ।

शुद्ध्यशुद्धी विधीयेते समानेष्वपि वस्तुषु ।
द्रव्यस्य विचिकित्सार्थं गुणदोषौ शुभाशुभौ ॥ ३ ॥
धर्मार्थं व्यवहारार्थं यात्रार्थमिति चानघ ।
दर्शितोऽयं मयाचारो धर्ममुद्वहतां धुरम् ॥ ४ ॥

हे अनघ ! सब वस्तुओंके समान होनेपर भी 'यह योग्य है, यह अयोग्य है' इस प्रकारके सन्देहसे वासनात्मक प्रवृत्तिका

संकोच करनेके लिये मैंने धर्माधर्मकी दृष्टिसे शुद्धि-अशुद्धि, व्यवहारकी दृष्टिसे गुण-दोष और जीवननिर्वाहके लिये शुभाशुभका विधान किया है। भक्ति और ज्ञानके अनधिकारी धर्माभिमानी लोगोंके लिये [मनु आदिके रूपसे] मैंने ही यह आचारकी मर्यादा बाँधी है।

भूम्यम्ब्वग्न्यनिलाकाशा[1] भूतानां पञ्च धातवः।
आब्रह्मस्थावरादीनां शारीरा आत्मसंयुताः ॥ ५ ॥

ब्रह्मासे लेकर स्थावर (पर्वत-वृक्ष आदि) पर्यन्त सभी प्राणियोंमें एक ही आत्मा है और पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—ये पञ्चभूत ही उन सब (शरीरों) के उपादान कारण हैं। [इस प्रकार वास्तवमें उनमें कोई भेद नहीं है।]

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्त एतेषां स्वार्थसिद्धये ॥ ६ ॥

हे उद्धव ! इन शरीरोंके धातु (उपादान कारण) समान होनेपर भी इनके शरीरोंके स्वार्थ (धर्माधर्मरूप पुरुषार्थ) की सिद्धिके लिये वेदने इनके भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंकी कल्पना की है।

देशकालादिभावानां वस्तूनां मम सत्तम।
गुणदोषौ विधीयेते नियमार्थं हि कर्मणाम् ॥ ७ ॥

हे साधुशिरोमणि उद्धव ! कर्मोंको नियमित (संकुचित) करनेके लिये ही मैंने देश-कालादि भाव और वस्तुओंके गुण-दोषोंका विधान किया है।

---

१. पा०—'भूम्यग्न्यप्स्वनिलाकाशाः'।

अकृष्णसारो देशानामब्रह्मण्योऽशुचिर्भवेत् ।
कृष्णसारोऽप्यसौ वीरः कीकटासंस्कृतेरिणम् ॥ ८ ॥

देशोंमें कृष्णसार मृग और ब्राह्मण-भक्त पुरुषोंसे रहित देश अपवित्र होता है; कृष्णसार मृगयुक्त होनेपर भी सत्पात्रहीन होनेसे कीकट (अंग-बंग-कलिंगादि) देश अपवित्र हैं, तथा जो भूमि असंस्कृत (बिना शुद्ध की हुई) अथवा ऊसर होती है वह भी अपवित्र मानी गयी है ।

कर्मण्यो गुणवान्कालो द्रव्यतः स्वत एव वा ।
यतो निवर्तते कर्म स दोषोऽकर्मकः स्मृतः ॥ ९ ॥

द्रव्य-संयोगसे अथवा स्वतः ही जिस कालमें कर्म हो सकते हों वही शुद्ध है और जिसमें कर्म न हो सकते हों कर्मके अयोग्य होनेसे वही काल अशुद्ध है ।

द्रव्यस्य शुद्ध्यशुद्धी च द्रव्येण वचनेन च ।
संस्कारेणाथ कालेन महत्त्वाल्पतयाथवा ॥ १० ॥

पदार्थोंकी शुद्धि और अशुद्धि द्रव्य, वचन, संस्कार, काल, महत्त्व अथवा अल्पत्वसे होती है । [जिस प्रकार पात्र जलसे शुद्ध और मूत्रादिसे अशुद्ध हो जाते हैं, किसी वस्तुकी शुद्धि अथवा अशुद्धिमें शंका होनेपर ब्राह्मण-वचनसे वह शुद्ध हो जाती है अन्यथा अशुद्ध रहती है, पुष्प आदि जल छिड़कनेसे शुद्ध और सूँघनेसे अशुद्ध माने जाते हैं, तत्कालका अन्न शुद्ध और बासी अशुद्ध होता है, तथा बड़े सरोवर और नदी आदिका जल शुद्ध और छोटे गढ़ोंका अशुद्ध माना जाता है; इस प्रकार क्रमसे द्रव्य, वचन आदिसे शुद्धि और अशुद्धि मानी जाती है ।]

शक्त्याशक्त्याथवा बुद्ध्या समृद्ध्या च यदात्मने ।
अघं कुर्वन्ति हि यथा¹ देशावस्थानुसारतः ॥११॥

इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति, अशक्ति, बुद्धि और वैभवके अनुसार भी आत्माके लिये जो पाप-पुण्यकी प्राप्ति होती है वह भी देश और अवस्थाके अनुसार ही होती है ।

धान्यदार्वस्थितन्तूनां रसतैजसचर्मणाम् ।
कालवाय्वग्निमृत्तोयैः पार्थिवानां युतायुतैः ॥१२॥

धान्य, काष्ठ, अस्थि (हड्डी-हाथीदाँत आदि), सूत, रस (मधु, लवणादि), तैजस (सुवर्ण, पारा आदि), चर्म और घटादि पार्थिव पदार्थोंकी शुद्धि काल, वायु, अग्नि, मृत्तिका एवं जलसे होती है । देश, काल और अवस्थाके अनुसार कहीं इनसे मिलाकर और कहीं इनमेंसे प्रत्येकसे अलग-अलग—दोनों प्रकारसे शुद्धि की जाती है ।

अमेध्यलिप्तं यद्येन गन्धं लेपं व्यपोहति ।
भजते प्रकृतिं तस्य तच्छौचं तावदिष्यते ॥१३॥

यदि किसी वस्तुमें कोई अशुद्ध पदार्थ लगा हो तो छीलनेसे अथवा मृत्तिका आदिके मलनेसे जब उस पदार्थकी गन्ध न रहे और वह वस्तु अपने पूर्वरूपमें आ जाय तो उसको शुद्ध समझना चाहिये ।

स्नानदानतपोऽवस्थावीर्यसंस्कारकर्मभिः ।
मत्स्मृत्या चात्मनः शौचं शुद्धः कर्माचरेद् द्विजः ॥१४॥

१. पा०—'तथा' ।

स्नान, दान, तप, अवस्था, सामर्थ्य, संस्कार, कर्म और मेरे स्मरणसे चित्त शुद्ध होता है; इस प्रकार शुद्ध होकर द्विज-मात्रको विहित कर्मोंको करते रहना चाहिये ।

मन्त्रस्य च परिज्ञानं कर्मशुद्धिर्मदर्पणम् ।
धर्मः सम्पद्यते षड्भिरधर्मस्तु विपर्ययः ॥१५॥

[गुरु-मुखसे सुनकर] भलीभाँति हृदयङ्गम कर लेनेसे मन्त्र-की और मेरे अर्पण कर देनेसे कर्मकी शुद्धि होती है; इसी प्रकार [देश, काल, पदार्थ, कर्ता, मन्त्र और कर्म—इन] छःके शुद्ध होनेसे धर्म और अशुद्ध होनेसे अधर्म होता है ।

क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः ।
गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधते ॥१६॥

कहीं-कही शास्त्र-विधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण हो जाता है । [अर्थात् एक शास्त्रविधिसे जो गुण है अन्य-से वही दोष हो जाता है और जो दोष है वही गुण हो जाता है जैसे वेदाध्ययन ब्राह्मणका कर्तव्य है तथापि शूद्रको उसका अधिकार नहीं और चर्म आदिका व्यवसाय करना ब्राह्मणके लिये त्याज्य है किन्तु शूद्रका कर्तव्य है ।] इस प्रकार यह जो एक ही पदार्थके विषयमें गुण-दोषका नियम है वह उस भेदका ही बाधक है । [अतः यही निश्चित होता है कि गुण-दोषका भेद कल्पित है ।]

समानकर्माचरणं पतितानां न पातकम् ।
औत्पत्तिको गुणः सङ्गो न शयानः पतत्यधः ॥१७॥

एक ही कर्मका आचरण करते हुए वह पतितोंके लिये पाप नहीं होता [जब कि श्रेष्ठ पुरुषोंके लिये बहुत दोषयुक्त होता है] जैसे संग गृहस्थियोंके लिये स्वाभाविक होनेके कारण गुण है, [किन्तु विरक्तोंके लिये अत्यन्त हानिकारक है ।] हे उद्धव ! पृथिवीपर सोया हुआ पुरुष जिस प्रकार नीचे नहीं गिर सकता उसी प्रकार पतित पुरुषका और क्या पतन होगा ?

यतो यतो निवर्त्तेत विमुच्येत ततस्ततः ।
एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः[1] ॥१८॥

[वास्तवमें तो कर्मकी सफलता उसकी निवृत्तिमें ही है;] जिस-जिस प्रवृत्तिसे मनुष्यका चित्त उपरत होता जाता है उसी-उसी ओरसे वह बन्धनमुक्त हो जाता है; मनुष्यके शोक, मोह और भयको हरनेवाला यह (निवृत्ति) ही कल्याणमय धर्म है ।

विषयेषु गुणाध्यासात्पुंसः सङ्गस्ततो भवेत् ।
सङ्गात्तत्र भवेत्कामः कामादेव कलिर्नृणाम् ॥१९॥

मनुष्य जब विषयोंमें गुण-दृष्टि करने लगता है तो उनसे उसका संग हो जाता है, संगसे उनमें राग होता है और रागसे (उसमें विघात होनेपर) कलह उत्पन्न होता है ।

कलेर्दुर्विषहः क्रोधस्तमस्तमनुवर्त्तते ।
तमसा ग्रस्यते पुंसश्चेतना व्यापिनी द्रुतम् ॥२०॥

कलहसे दुःसह क्रोध होता है और क्रोधका अनुगमन अज्ञान करता है तथा अज्ञानसे शीघ्र ही मनुष्यकी चेतनाशक्ति (कार्य-अकार्य-स्मृति) आवृत हो जाती है ।

---

१. पा०—'शोकमोहभवापहः' ।

तया विरहितः साधो जन्तुः शून्याय कल्पते ।
ततोऽस्य स्वार्थविभ्रंशो मूर्च्छितस्य मृतस्य च ॥२१॥

हे साधु उद्धव ! चेतनाशक्ति (स्मृति)से हीन पुरुष शून्यवत् हो जाता है; फिर मृत अथवा मूर्च्छितके समान [संज्ञाहीन हो जानेसे] उसके स्वार्थ (परमार्थ) साधनका भी ह्रास हो जाता है ।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं वेद नापरम् ।
वृक्षजीविकया जीवन्व्यर्थं भस्त्रेव यः श्वसन् ॥२२॥

इस प्रकार धोंकनीके समान श्वास लेता हुआ वह वृक्षवत् व्यर्थ जीवन व्यतीत करता है और विषय-लम्पटताके कारण आत्मा और परमात्मा किसीको नहीं जानता ।

फलश्रुतिरियं नृणां न श्रेयो रोचनं परम् ।
श्रेयोविवक्षया प्रोक्तं यथा भैषज्यरोचनम् ॥२३॥

वेदकी फलश्रुतियाँ पुरुषके आत्यन्तिक पुरुषार्थ (श्रेय)की प्रतिपादक नहीं हैं, वे केवल सकाम और विषयी पुरुषोंको श्रेयकी ओर प्रवृत्त करनेके लिये प्ररोचना (बहलाना, फुसलाना) मात्र ही हैं, जिस प्रकार कड़वी दवा पिलानेके लिये बालकको भाँति-भाँतिसे फुसलाते हैं ।

उत्पत्त्यैव हि कामेषु प्राणेषु स्वजनेषु च ।
आसक्तमनसो मर्त्या आत्मनोऽनर्थहेतुषु ॥२४॥
न तानविदुषः स्वार्थं भ्राम्यतो वृजिनाध्वनि ।
कथं युञ्ज्यात्पुनस्तेषु तांस्तमो विशतो बुधः ॥२५॥

आत्माके लिये अनर्थरूप कामनाओं, प्राणों और कुटुम्बियोंमें

तो मनुष्यका चित्त जन्मसे ही आसक्त होता है, इस प्रकार स्वार्थवश जन्म-मरण-रूप संसार-मार्गमें भटकते हुए उन दीन और अविवेकी पुरुषोंको विज्ञ वेद फिर क्यों उसीमें प्रवृत्त करेगा।

एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥२६॥

वेदके इस अभिप्रायको न जानकर कोई-कोई बुद्धिहीन पुरुष कर्मासक्तिके कारण कुसुमस्थानीय (आपातरमणीय) फलश्रुतियोंको ही परमफल मान बैठे हैं। [परन्तु बात ऐसी नहीं है] क्योंकि वेदका मर्म जाननेवाले ऐसा नहीं कहते।

कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः।
अग्निमुग्धा धूमतान्ताः स्वं लोकं न विदन्ति ते ॥२७॥

वे कामासक्त, कृपण और लोभी पुरुष पुष्पों (स्वर्गादि) को ही फल (परम पुरुषार्थ) मान लेते हैं और अग्निसाध्य (यज्ञादि) कर्मोंमें ही लगे रहकर अन्तमें धूम-मार्गसे (देवलोक, पितृलोक आदिको) जाते हैं; वे अपने निजधाम (निर्वाणपद) को प्राप्त नहीं हो सकते।

न ते मामङ्ग जानन्ति हृदिस्थं य इदं यतः।
उक्थशस्त्रा ह्यसुतृपो यथा नीहारचक्षुषः ॥२८॥

हे प्रियवर! कर्म ही जिनका शस्त्र है ऐसे वे प्राण-पोषक पुरुष अपने अन्तःकरणमें स्थित मुझको नहीं देख पाते, जिससे कि यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है; जिस प्रकार जिनकी आँखोंमें धुन्ध (कुहरा) छा जाती है वे लोग अपने समीपवर्ती पदार्थोंको भी नहीं देख सकते।

ते मे मतमविज्ञाय परोक्षं विषयात्मकाः ।
हिंसायां यदि रागः स्याद्यज्ञ एव न चोदना ॥२९॥
हिंसाविहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया ।
यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन्खलाः ॥३०॥

वे विषयी लोग मेरे इस गूढ़ अभिप्रायको नहीं जानते कि वेदमें हिंसा करनेकी प्रेरणा नहीं की गयी है बल्कि यदि किसीकी हिंसामें विशेष प्रवृत्ति हो तो वह केवल यज्ञमें ही हिंसा करे—इतना नियम कर दिया है। [इस नियमका कोई विचार न करके] हिंसामें रत हुए वे दुष्ट अपने सुखके लिये पशुओंकी बलि देकर देवता, पितर और भूतपतियोंका यज्ञोंद्वारा यजन करते रहते हैं।

स्वप्नोपममसुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम् ।
आशिषो हृदि संकल्प्य त्यजन्त्यर्थान्यथा वणिक् ॥३१॥

वे लोग स्वप्नके समान और सुननेमें प्रिय लगनेवाले इस लोक और स्वर्गादि लोकोंकी हृदयमें आशा बाँधकर अधिक लाभकी आशासे मूलधनको भी गँवा देनेवाले व्यापारीके समान व्यर्थ अपने धनका नाश करते हैं।

रजःसत्त्वतमोनिष्ठा रजःसत्त्वतमोजुषः ।
उपासत इन्द्रमुख्यान्देवादीन्न तथैव माम् ॥३२॥

सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंमें लगे हुए लोग इन्द्रादिक त्रिगुणात्मक देवताओंकी ही उपासना करते हैं, वे उसी तरह मेरी पूजा नहीं कर सकते।

---

१. पा०—'पितॄन् भूतपतीन्'। २. पा०—'यजन् यज्ञैर्यथा'।

इष्ट्वेह देवता यज्ञैर्गत्वा रंस्यामहे दिवि ।
तस्यान्त इह भूयास्म महा[1]शाला महाकुलाः ॥३३॥
एवं पुष्पितया वाचा व्याक्षिप्तमनसां नृणाम् ।
मानिनां चा[2]तिस्तब्धानां मद्वार्तापि न रोचते ॥३४॥

'यहाँ यज्ञोंद्वारा देवताओंका यजन करके हम स्वर्गलोकमें जाकर नाना प्रकारके भोग भोगेंगे और फिर उसके पश्चात् इस लोकमें उच्च कुलमें जन्म लेकर बड़े भारी कुटुम्बी होंगे'—इस प्रकारके पुष्पित (चित्र-विचित्र) वाक्योंसे जिनका चित्त चञ्चल हो रहा है उन अभिमानी और ढीठ पुरुषोंको मेरी बात भी अच्छी नहीं लगती।

वेदा ब्रह्मात्मविषयास्त्रिकाण्डविषया इमे ।
परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं मम च[3] प्रियम् ॥३५॥

वेदोंके कर्म, उपासना और ज्ञान तीन काण्ड हैं और वे ब्रह्म और आत्माकी एकता ही सिद्ध करते हैं; किन्तु मन्त्रद्रष्टा ऋषि परोक्षवादी हैं [वे विषयको स्पष्ट खुले शब्दोंमें नहीं कहते] और मुझे भी परोक्ष कथन ही प्रिय है [क्योंकि इससे गूढ़ वस्तु अनधिकारियोंके हाथ नहीं लगती] ।

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥३६॥

शब्द-ब्रह्म अत्यन्त दुर्बोध है, वह प्राणमय (परा), मनोमय (पश्यन्ती) और इन्द्रियमय (मध्यमा) तीन प्रकारका है

१. पा०—'महाशीलाः' । २. पा०—'चापि बद्धानाम्' ।
३. पा०—'च मम' ।

तथा समुद्रके समान अनन्त-पार, गम्भीर और कठिनतासे पार किये जाने योग्य [अर्थात् बुद्धिसे अगम्य] है ।*

मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥३७॥

मुझ अनन्तशक्ति और व्यापक ब्रह्मने ही उसका विस्तार किया है । कमलनालगत सूक्ष्म तन्तुके समान वह पहले-पहल प्राणियोंके अन्तःकरणमें नादरूपसे प्रकट होता है [जो कान बन्द करनेपर सुनायी देता है] ।

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद् घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥३८॥

जिस प्रकार मकड़ी अपने हृदयसे मुखके द्वारा निकालकर जाला फैला देती है उसी प्रकार सूक्ष्म नादरूप उपादान कारण-से युक्त प्राणोपाधिक भगवान् हिरण्यगर्भ वर्णोंका संकल्प करने-

---

* श्रुति कहती है—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पद परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीरूपसे चार प्रकारके हैं । इनको मनस्वी ब्राह्मण ही जानते हैं । इनमेंसे तीन तो अन्तःकरणमें छिपे हुए हैं, उनकी कोई बाह्य चेष्टा नहीं होती, चौथे वैखरी-शब्दको मनुष्यादि समस्त प्राणी बोलते हैं ।

१. पा०—'विशेषेनैव' ।

वाले मनरूप निमित्त कारणद्वारा हृदयाकाशसे उसे वैखरी वाणीमें प्रकट करते हैं।

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ओङ्काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तःस्थभूषिताम् ॥३९॥

फिर वे वेदमय और अमृतमय प्रभु नानारूपसे ओङ्कारद्वारा स्पर्श (क से म तक) स्वर, (अ से औ तक) ऊष्म (श, ष, स, ह) और अन्तःस्थ (य, र, ल, व) रूपसे उसे प्रकट करते हैं।

विचित्रभाषाविततां छन्दोभिश्चतुरुत्तरैः।
अनन्तपारां बृहतीं सृजत्याक्षिपते स्वयम् ॥४०॥

इस प्रकार उत्तरोत्तर चार-चार वर्णोंसे बढ़ती हुई छन्दोंके द्वारा विचित्र भाषाओंके रूपमें विस्तृत उस अनन्त-पार बृहती (वैखरी-वाणी) को स्वयं भगवान् हिरण्यगर्भ ही पहले रचते और फिर अपनेमें लीन कर लेते हैं।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च।
त्रिष्टुब्जगत्यतिच्छन्दो ह्यत्यष्ट्यतिजगद्विराट् ॥४१॥

[उस वेदमयी बृहतीमें ये छन्द विद्यमान हैं—] गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, अतिच्छन्दस्, अत्यष्टि, अतिजगत् और विराट्।

किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत्।
इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन ॥४२॥

वह बृहती [कर्मकाण्डमें] क्या विधान करती है, [उपासना-काण्डमें] क्या बतलाती है और [ज्ञान-काण्डमें]

किसका अनुवाद करती हुई क्या विकल्प करती है, उसके इस मर्मको संसारमें मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं जानता।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान्सर्ववेदार्थः शब्द आस्थाय मां भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य प्रसीदति ॥४३॥

वह (बृहती) मेरा ही विधान करती है, उपास्यरूपसे मेरा ही वर्णन करती है और आकाशादि रूपसे मेरा ही आरोप कर फिर मेरा ही बाध करती है। सम्पूर्ण वेदका यही अर्थ है—वह मेरा आश्रय लेकर भेदको मायामात्र बतलाता हुआ उसका निषेध करके अन्तमें शान्त हो जाता है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

बाईसवाँ अध्याय

तत्त्वोंकी संख्या और पुरुष-प्रकृति-विवेक

उद्धव उवाच

कति तत्त्वानि विश्वेश[1] संख्यातान्यृषिभिः प्रभो।
नवैकादश पञ्च त्रीण्यात्थ त्वमिह[2] शुश्रुम ॥ १ ॥
केचित्षड्विंशतिं प्राहुरपरे पञ्चविंशतिम्।
सप्तैके नव षट् केचिच्चत्वार्येकादशापरे ॥ २ ॥

१. पा०—'देवेश'। २. पा०—'त्वमिति'।

केचित्सप्तदश प्राहुः षोडशैके त्रयोदश ।
एतावत्त्वं हि संख्यानामृषयो यद्विवक्षया ।
गायन्ति पृथगायुष्मन्निदं नो वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

श्रीउद्धवजी बोले—हे प्रभो ! हे विश्वेश्वर ! ऋषियोंने कितने तत्त्व बतलाये हैं ? आपने तो अभी नौ, ग्यारह, पाँच और तीन [इस प्रकार कुल अट्ठाईस] तत्त्व कहे हैं जिन्हें कि हम सुन चुके हैं । किन्तु कोई छब्बीस, कोई पच्चीस, कोई सात, कोई नौ, कोई छः, कोई चार, कोई ग्यारह, कोई सत्रह, कोई सोलह और कोई तेरह तत्त्व बतलाते हैं । हे आयुष्मन् ! ऋषिगण जिस अभिप्रायसे इतनी भिन्न-भिन्न संख्याएँ बतलाते हैं सो आप मुझसे कहिये ।

श्रीभगवानुवाच

युक्तं च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा ।
मायां मदीयामुद्गृह्य वदतां किं नु दुर्घटम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! इस विषयमें ब्राह्मणलोग जो कुछ कहते हैं वह सभी ठीक है [क्योंकि सब तत्त्व सब जगह अन्तर्भूत हैं ।] मेरी मायाका आश्रय लेकर कहनेवालोंके लिये भला कौन बात कहना कठिन है ?

नैतदेवं यथात्थ त्वं यदहं वच्मि तत्तथा ।
एवं विवदतां हेतुं शक्तयो मे दुरत्ययाः ॥ ५ ॥

'जैसा तुम कहते हो वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ वही यथार्थ है'—इस प्रकार जगत्के हेतुके विषयमें विवाद

करनेवालोंके विवादकी कारणरूपा मेरी मायामयी शक्तियाँ अति कठिनतासे पार होने योग्य हैं।

यासां व्यतिकरादासीद्विकल्पो वदतां पदम्[1]।
प्राप्ते शमदमेऽप्येति वादस्तमनुशाम्यति ॥ ६ ॥

उन (मायामयी शक्तियों)के क्षोभसे ही यह विकल्परूप प्रपञ्च वादी-प्रतिवादियोंके विवादका स्थान हुआ है। शम (चित्त-शान्ति) और दम (इन्द्रियदमन) के स्थिर होनेपर यह शान्त हो जाता है और उसके साथ ही वाद-विवाद भी निवृत्त हो जाता है।

परस्परानुप्रवेशात्तत्त्वानां पुरुषर्षभ।
पौर्वापर्यप्रसंख्यानं यथा वक्तुर्विवक्षितम् ॥ ७ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! तत्त्वोंके परस्पर मिले हुए होनेके कारण वक्ताके तात्पर्यानुसार कार्य-कारणभावकी विभिन्न संख्याएँ हो जाती हैं।

एकस्मिन्नपि दृश्यन्ते प्रविष्टानीतराणि च।
पूर्वस्मिन् वा परस्मिन्वा तत्त्वे तत्त्वानि सर्वशः ॥ ८ ॥
पौर्वापर्यमतोऽमीषां प्रसंख्यानमभीप्सताम्।
यथाविविक्तं यद्वक्त्रं गृह्णीमो युक्तिसम्भवात् ॥ ९ ॥

कारणतत्त्व अथवा कार्यतत्त्वमें एक-एकमें और-और तत्त्व भी सम्मिलित दिखलायी देते हैं, इसलिये पूर्वापर (कारण-कार्य) रूपसे तत्त्वोंकी न्यूनाधिक संख्या चाहनेवाले वादियोंमें जिसने जैसा निश्चय किया है युक्तियुक्त होनेके कारण हम उसीको स्वीकृत कर लेते हैं।

---

१. पा०—'परम्'। २. यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

अनाद्यविद्यायुक्तस्य पुरुषस्यात्मवेदनम् ।
स्वतो न सम्भवादन्यस्तत्त्वज्ञो ज्ञानदो भवेत् ॥१०॥

अनादि कालसे अविद्याग्रस्त हुए पुरुषको स्वयं ही आत्मज्ञान नहीं हो सकता, अतः उसको ज्ञानोपदेश करनेके लिये किसी अन्य तत्त्वज्ञानीकी आवश्यकता है । [इसीलिये पचीस तत्त्वोंके अन्तर्गत जीवसे भिन्न 'ईश्वर' नामक एक और तत्त्वको सम्मिलित करके तत्त्व-संख्या छब्बीस हो जाती है ।]

पुरुषेश्वरयोरत्र न वैलक्षण्यमण्वपि ।
तदन्यकल्पनापार्था ज्ञानं च प्रकृतेर्गुणः ॥११॥

परन्तु, क्योंकि आत्मा और परमात्मामें अणुमात्र भी भेद नहीं है, इसलिये किसी अन्य पुरुषकी कल्पना करना भी सर्वथा व्यर्थ है [अतः तत्त्वसंख्या पचीस ही होनी चाहिये ।] और ज्ञान तो प्रकृतिके सत्त्वगुणका ही व्यापार है ।

प्रकृतिर्[1]गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः ।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ॥१२॥

प्रकृतिके गुणोंका ही साम्य होता है । तथा संसारकी स्थिति, सृष्टि और नाशके हेतु सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण प्रकृतिके ही हैं, आत्माके नहीं ।

सत्त्वं ज्ञानं रजः कर्म तमोऽज्ञानमिहोच्यते ।
गुणव्यतिकरः कालः स्वभावः सूत्र[2]मेव च ॥१३॥

सत्त्वगुण ज्ञान है, रजोगुण कर्म और तमोगुण ही अज्ञान

१. पा०—'प्रकृतेः' । २. पा०—'तत्त्वमेव वा' ।

कहा जाता है। इन तीनों गुणोंकी विषमताका हेतु ही काल है और स्वभाव ही महत्तत्त्व है। [यदि इन तीनों गुणोंको पृथक् मान लिया जाय तो तत्त्व-संख्या अट्ठाईस हो जाती है।]

पुरुषः प्रकृतिर्व्यक्तमहंकारो नभोऽनिलः।
ज्योतिरापः क्षितिरिति तत्त्वान्युक्तानि मे नव ॥१४॥

मैंने पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी—ये नौ तत्त्व कहे हैं।

श्रोत्रं त्वग्दर्शनं घ्राणो जिह्वेति ज्ञानशक्तयः।
वाक्पाण्युपस्थपाय्वङ्घ्रिकर्माण्यङ्गोभयं मनः ॥१५॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण और रसना पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। हे प्रिय! मन उभयेन्द्रियरूप है।

शब्दः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं चेत्यर्थजातयः।
गत्युक्त्युत्सर्गशिल्पानि कर्मायतनसिद्धयः ॥१६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके विषय हैं तथा चलना, बोलना, मैथुन, मलत्याग और शिल्प—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके व्यापार हैं।

सर्गादौ प्रकृतिर्ह्यस्य कार्यकारणरूपिणी।
सत्त्वादिभिर्गुणैर्धत्ते पुरुषोऽव्यक्त ईक्षते ॥१७॥

सृष्टिके आरम्भमें इस जगत्की कार्य-कारण-रूपिणी प्रकृति ही अपने सत्त्वादि गुणोंके द्वारा इन अवस्थाओंको धारण करती है, अव्यक्त पुरुष तो केवल उनका साक्षी है।

व्यक्तादयो विकुर्वाणा धातवः पुरुषेक्षया ।
लब्धवीर्याः सृजन्त्यण्डं संहताः प्रकृतेर्बलात् ॥१८॥

पुरुषके साक्षित्वसे बल प्राप्त करके महत्तत्त्व आदि परस्पर मिलकर विकारको प्राप्त होते हुए कारणतत्त्व प्रकृतिके आश्रयसे इस ब्रह्माण्डकी रचना करते हैं ।

सप्तैव धातव इति तत्रार्थाः पञ्च खादयः ।
ज्ञानमात्मोभयाधारस्ततो देहेन्द्रियासवः ॥१९॥

इस प्रकार सात ही तत्त्व माननेवालोंके विचारसे पाँच तो आकाशादि पञ्चभूत, एक ज्ञान (जीव) और एक इन (साक्ष्य और साक्षी) दोनोंका अधिष्ठान परमात्मा हैं । देह, इन्द्रिय, प्राणादि तो इन भूतोंसे ही उत्पन्न हुए हैं ।

षडित्यत्रापि भूतानि पञ्च षष्ठः परः पुमान् ।
तैर्युक्त आत्मसंभूतैः सृष्ट्वेदं समुपाविशत् ॥२०॥

और छः ही तत्त्व बतलानेवालोंके मतमें पाँच भूत और छठा जीवाभिन्न परमात्मा है । वह परमात्मा ही अपनेसे उत्पन्न हुए इन भूतोंकी रचना करके उनमें जीवरूपसे स्थित हो गया है ।

चत्वार्येवेति तत्रापि तेज आपोऽन्नमात्मनः ।
जातानि तैरिदं जातं जन्मावयविनः खलु ॥२१॥

जो लोग चार ही कारण-तत्त्व बतलाते हैं उनके अनुसार तेज, जल और अन्न ये आत्मासे उत्पन्न हुए हैं, और उनसे अन्य सब कार्यरूप पदार्थोंकी उत्पत्ति हुई है ।

१. पा०—'यत्र' ।

संख्याने सप्तदशके भूतमात्रेन्द्रियाणि च ।
पञ्च पञ्चैकमनसा आत्मा सप्तदशः स्मृतः ॥२२॥

सत्रह गिनानेवालोंके विचारसे पञ्चभूत, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, आत्मा और मन—इस प्रकार कुल सत्रह तत्त्व हैं ।

तद्वत्षोडशसंख्याने आत्मैव मन उच्यते ।
भूतेन्द्रियाणि पञ्चैव मन आत्मा त्रयोदश ॥२३॥

इस प्रकार सोलह गिनानेमें आत्माहीको मन मान लिया है और तेरहकी गणनामें पञ्चभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन, जीवात्मा और परमात्मा—ये तेरह माने हैं ।

एकादशत्व आत्मासौ महाभूतेन्द्रियाणि च ।
अष्टौ प्रकृतयश्चैव पुरुषश्च नवेत्यथ*॥२४॥

ग्यारहकी संख्यामें आत्मा, पञ्चभूत और पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ मानी गयी हैं और नौकी संख्यामें आठ प्रकृतियाँ (पञ्चभूत, मन, बुद्धि और अहंकार)† और पुरुष—ये नौ माने गये हैं ।

इति नानाप्रसंख्यानं तत्त्वानामृषिभिः कृतम् ।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद्विदुषां किमशोभनम् ॥२५॥

इस प्रकार ऋषियोंने नाना प्रकारसे तत्त्वोंकी गणना की है; युक्तियुक्त होनेके कारण वे सभी उचित हैं । विद्वानोंके लिये इसमें क्या बुराई है ?

---

* यह श्लोक प्राचीन प्रतिमें नहीं है ।

† भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ (गीता ७ । ४)

उद्धव उवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ यद्यप्यात्मविलक्षणौ ।
अन्योन्यापाश्रयात्कृष्ण दृश्यते न भिदा तयोः ॥२६॥

उद्धवजी बोले—हे कृष्ण ! यद्यपि स्वरूपसे प्रकृति और पुरुष दोनों परस्पर भिन्न हैं तथापि एक दूसरेके आश्रित होनेसे उनका भेद प्रतीत नहीं होता ।

प्रकृतौ लक्ष्यते ह्यात्मा प्रकृतिश्च तथात्मनि ।
एवं मे पुण्डरीकाक्ष महान्तं संशयं हृदि ।
छेत्तुमर्हसि सर्वज्ञ[१] वचोभिर्नयनैपुणैः ॥२७॥

हे कमललोचन ! प्रकृतिमें पुरुष और पुरुषमें प्रकृति अभिन्न-से प्रतीत होते हैं । मेरे हृदयमें यह बड़ा भारी सन्देह है, सो हे सर्वज्ञ ! आप अपने तर्कप्रवीण वचनोंसे उसे दूर कीजिये ।

त्वत्तो ज्ञानं हि जीवानां प्रमोषस्तेऽत्र शक्तितः ।
त्वमेव ह्यात्ममायाया[२] गतिं वेत्थ न चापरः ॥२८॥

हे प्रभो ! आपकी ही कृपा-कटाक्षसे जीवोंको ज्ञान होता है, और आपकी ही मायाशक्तिसे वे मोहमें पड़ते हैं । अपनी अद्भुत मायाकी विचित्र गतिको आप ही जानते हैं, आपके अतिरिक्त और कोई उसे नहीं जान सकता ।

श्रीभगवानुवाच

प्रकृतिः पुरुषश्चेति विकल्पः पुरुषर्षभ ।
एष वैकारिकः सर्गो गुणव्यतिकरात्मकः ॥२९॥

१. पा०—'देवेश' । २. पा०—'आत्मनो योगः' ।

श्रीभगवान् बोले—हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव ! प्रकृति और पुरुष इन दोनोंमें अत्यन्त भेद है । यह प्राकृत प्रपञ्च विकारवान् है क्योंकि यह गुणोंके क्षोभका ही परिणाम है ।

ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा
विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते ।
वैकारिकस्त्रिविधोऽध्यात्ममेक-
मथाधिदैवमधिभूतमन्यत्[1] ॥३०॥

हे प्रियवर ! मेरी त्रिगुणात्मिका माया अपने गुणोंके द्वारा नाना प्रकारकी भेदबुद्धि उत्पन्न कर देती है, वह विकारवती भेदबुद्धि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपसे तीन प्रकारकी है ।

दृग्रूपमार्कं वपुरत्र रन्ध्रे
परस्परं सिध्यति यः स्वतः खे[2] ।
आत्मा यदेषामपरो य आद्यः
स्वयानुभूत्याखिलसिद्धसिद्धिः ।
एवं त्वगादि श्रवणादि चक्षु-
र्जिह्वादि नासादि च चित्तयुक्तम् ॥३१॥

जिस प्रकार [अध्यात्म] चक्षु-इन्द्रिय, [अधिभूत] रूप और [अधिदैव] नेत्र गोलक-गत सूर्यका अंश—ये तीनों परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे सिद्ध होते हैं, किन्तु आकाशमें जो सूर्य भगवान् हैं वे स्वतःसिद्ध हैं, उसी प्रकार आत्मा, जो इन (भूतादि विकारों) से पृथक् है और इनका आदिकारण है, अपने स्वयं-

१. पा०—'अथाधिभूतमधिदेवम्' । २. पा०—'स्वतोऽसौ' ।

सिद्ध प्रकाशसे इन समस्त प्रकाशोंका भी प्रकाशक है। इसी प्रकार त्वगादि, श्रवणादि, चक्षुरादि, जिह्वादि, नासिकादि और चित्तादि भी अध्यात्मादि भेदसे तीन-तीन हैं *।

योऽसौ गुणक्षोभकृतो विकारः
प्रधानमूलान्महतः प्रसूतः।
अहं त्रिवृन्मोहविकल्पहेतु-
र्वैकारिकस्तामस ऐन्द्रियश्च ॥२२॥

गुण-क्षोभके कारण प्रकृतिमूलक महत्तत्त्वसे उत्पन्न हुआ यह अहंकाररूप विकार वैकारिक (सात्त्विक), तामस और ऐन्द्रियिक (राजस) भेदसे तीन प्रकारका है। यह अहंकार ही मोह और विकल्परूप भेद-भावका मुख्य हेतु है।

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो
ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः।
व्यर्थोऽपि नैवोपरमेत पुंसां
मत्तः परावृत्तधियां स्वलोकात् ॥२३॥

आत्मा ज्ञानस्वरूप है और अस्ति-नास्ति (है-नहीं है, सगुण-निर्गुण, भाव-अभाव अथवा सत्य-मिथ्या आदि) रूपसे होनेवाला

* इन सबके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव—ये तीन भेद क्रमशः इस प्रकार हैं—

त्वचा, स्पर्श और वायु; श्रवण, शब्द और दिशा; चक्षु, रूप और सूर्य; जिह्वा, रस और वरुण; नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार; चित्त, चेतयितव्य और वासुदेव; मन, मन्तव्य और चन्द्रमा; अहंकार, अहंकर्तव्य और रुद्र तथा बुद्धि, बोद्धव्य और ब्रह्मा।

यह विवाद भेद-दृष्टिके कारण वर्तमान है। यह यद्यपि व्यर्थ है तथापि जबतक पुरुष अपने स्वरूपभूत मुझसे विमुख रहता है तबतक यह निवृत्त नहीं होता।

उद्धव उवाच

त्वत्तः परावृत्तधियः स्वकृतैः कर्मभिः प्रभो।
उच्चावचान्यथा देहान्गृह्णन्ति विसृजन्ति च ॥३४॥
तन्ममाख्याहि गोविन्द दुर्विभाव्यमनात्मभिः।
न ह्येतत्प्रायशो लोके विद्वांसः सन्ति वञ्चिताः ॥३५॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो! जो लोग आपसे विमुख हैं वे अपने कर्मोंके द्वारा जिस प्रकार उच्च और नीच योनियोंका ग्रहण और त्याग करते हैं, सो सब आप मुझसे कहिये। हे गोविन्द! आत्मज्ञानसे शून्य पुरुषोंके लिये इसका चिन्तन करना भी अति कठिन है और इस लोकमें इस आत्मतत्त्वको जाननेवाले तो प्रायः हैं ही नहीं, क्योंकि सभी आपकी मोहिनी मायासे मोहित हो रहे हैं।

श्रीभगवानुवाच

मनः कर्ममयं[1] नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते ॥३६॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! मनुष्योंका कर्ममय मन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे युक्त है। वही एक लोकसे दूसरे लोकमें जाता है और उससे भिन्न होनेपर भी [उसमें अहंकार-बद्ध होनेके कारण] आत्मा उसका अनुसरण करता है।

१. पा०—'कर्ममयैर्नृणाम्'।

ध्यायन्मनोऽनुविषयान्दृष्टान्वानुश्रुतानथ[1] ।
उद्यत्सीदत्कर्मतन्त्रं स्मृतिस्तदनुशाम्यति ॥३७॥

यह कर्माधीन मन देखे और कर्म-शास्त्रादिद्वारा सुने हुए विषयोंका ध्यान करता हुआ उन्हींके लिये उद्यत रहता है, और उनमें लीन हो जानेसे उसकी पूर्व-स्मृति नष्ट हो जाती है ।

विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत्स्मरेत्पुनः ।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः[2] ॥३८॥

[अपने कर्मानुसार प्राप्त हुए शरीरके सुख-दुःखादि] विषयोंमें जब अत्यन्त दृढ़ आस्था हो जाती है तो जीव अपने पूर्व देहका स्मरण नहीं करता, यही किसी कारणसे देहकी अत्यन्त विस्मृति ही उसकी मृत्यु है ।

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद ।
विषयस्वीकृतिं[3] प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः ॥३९॥

हे उदार उद्धव ! प्राप्त हुए देहादि विषयोंको अहंभावद्वारा पूर्णतया स्वीकार कर लेना ही जीवका जन्म है, वास्तवमें जीवका कोई जन्म-मरण नहीं होता; ये जन्मादि स्वप्न और मनोरथके समान ही हैं ।

स्वप्नं मनोरथं चेत्थं प्राक्तनं न स्मरत्यसौ ।
तत्र पूर्वमिवात्मानमपूर्वं चानुपश्यति ॥४०॥

स्वप्न और मनोरथ भी ठीक ऐसे ही हैं । उनमें भी मनुष्य

१. पा०—'वाथ श्रुतांस्तथा' । २. पा०—'विस्मितः' ।
३. पा०—'स्वीकृतम्' ।

अपने पूर्वस्वरूपको भूल जाता है और पूर्व-सिद्ध होता हुआ भी अपने आपको [उस अवस्थाके अनुसार] अपूर्व ही मानता है। [अर्थात् स्वप्नादिमें अपने आपको जैसा देखता है वैसा ही मान लेता है, अपनी जाग्रत्-कालकी स्थितिको भूल जाता है।]

इन्द्रियायनसृष्ट्येदं त्रैविध्यं भाति वस्तुनि।
बहिरन्तर्भिदाहेतुर्जनोऽसज्जनकृद्यथा ॥४१॥

जिस प्रकार स्वप्नादिमें जीव असत् पदार्थोंका बनानेवाला होकर बाहर-भीतरके भेद असत् ही बनाता है उसी प्रकार इन्द्रियों-के आश्रयरूप इस मनकी रचनासे उत्तम, मध्यम, अधम अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि त्रिविध भेद भासने लगते हैं।

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न[1] भवन्ति च।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न[2] दृश्यते ॥४२॥

हे मित्र! कालकी गति अति दुर्बोध है, उसमें प्राणियोंके जन्म-मरण तो निरन्तर क्षण-क्षणमें होते रहते हैं, परन्तु अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होते।

यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥४३॥

जिस प्रकार [परिणामसे] ज्योतिकी, [गतिभेदसे] जलकी, [पकनेतक] फल और [नष्ट होनेतक] वृक्षादिकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, उसी प्रकार कालके कारण समस्त प्राणियोंकी

१. पा०—'न भवन्ति भवन्ति च'। २. पा०—सूक्ष्मत्वन्तत्र'।

आयु और अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। [परन्तु वे सूक्ष्म होनेसे प्रतीत नहीं होतीं।]

सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत्स्रोतसां तदिदं जलम्।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥४४॥

जिस प्रकार [सादृश्यके कारण] दीप-शिखाको 'यह वही दीपक है' और नदी-प्रवाहको 'यह वही जल है' ऐसा समझते हैं उसी प्रकार आयुको वृथा खोनेवाले पुरुषोंका 'यह वही मनुष्य है'—ऐसा कहना और समझना भूल ही है।

मा स्वस्य कर्मबीजेन जायते सोऽप्ययं पुमान्।
म्रियते वामरो भ्रान्त्या यथाग्निर्दारुसंयुतः ॥४५॥

ऐसा अज्ञानी पुरुष भी अपने कर्मरूप हेतुसे न जन्म लेता है और न मरता है, क्योंकि वह अमर है। वास्तवमें काष्ठ-संयोगसे प्रकट और शान्त होते हुए अग्निके समान केवल भ्रान्तिसे ही उसके जन्म-मरण प्रतीत होते हैं।

निषेकगर्भजन्मानि[1] बाल्यकौमारयौवनम्।
वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव ॥४६॥

गर्भ-प्रवेश, गर्भ-वृद्धि, जन्म, बाल्य, कौमार, यौवन, प्रौढ़ावस्था, जरा और मृत्यु—ये नौ अवस्थाएँ शरीरकी ही हैं।

एता मनोरथमयीर्ह्यन्यस्योच्चावचास्तनूः।
गुणसङ्गादुपादत्ते क्वचित्कश्चिज्जहाति च ॥४७॥

अपनेसे भिन्न शरीरकी इन मनोरथमयी उच्च और नीच अवस्थाओंको जीव अज्ञान-वश गुणोंके संगसे अपनी मान लेता है

१. पा०—'निषेकगर्भजन्मादि'।

और कहीं-कहीं कभी [विवेक हो जानेसे] कोई इन्हें छोड़ भी देता है ।

आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवाप्ययौ ।
न भवाप्ययवस्तूनामभिज्ञो द्वयलक्षणः ॥४८॥

पिताको पुत्रके जन्मसे और पुत्रको पिताकी मृत्युसे अपने-अपने जन्म-मरणका अनुमान करना चाहिये । किन्तु इन जन्म-मरणरूपी धर्मोंका ज्ञाता इन दोनों धर्मोंसे युक्त नहीं है ।

तरोर्बीजविपाकाभ्यां यो विद्वाञ्जन्मसंयमौ ।
तरोर्विलक्षणो द्रष्टा एवं द्रष्टा तनोः पृथक् ॥४९॥

वृक्षके बोने और काटनेसे जो उसकी उत्पत्ति और नाशको जाननेवाला है वह साक्षी पुरुष जैसे उस वृक्षसे भिन्न होता है वैसे ही इस शरीरका साक्षी (आत्मा) भी इस शरीरसे भिन्न है ।

प्रकृतेरेवमात्मानमविविच्याबुधः पुमान् ।
तत्त्वेन स्पर्शसंमूढः संसारं प्रतिपद्यते ॥५०॥

इस प्रकारके विवेकसे रहित जो अज्ञानी पुरुष आत्माको प्रकृतिसे पृथक् उसके वास्तविक स्वरूपसे नहीं जानता वह विषयोंमें मोहित होकर जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा रहता है ।

सत्त्वसङ्गादृषीन्देवान्रजसासुरमानुषान् ।
तमसा भूततिर्यक्त्वं भ्रामितो याति कर्मभिः ॥५१॥

अपने कर्मोंके अनुसार आवागमनके चक्रमें भटकता हुआ वह अविवेकी जीव सात्त्विक कर्मोंके संयोगसे देव और ऋषि-

योनियोंमें, राजस कर्मोंसे असुर और मनुष्ययोनियोंमें तथा तामस कर्मोंसे भूत-प्रेत आदि तिर्यक्-योनियोंमें जन्मता रहता है।

नृत्यतो गायतः पश्यन्यथैवानुकरोति तान्।
एवं बुद्धिगुणान्पश्यन्ननीहोऽप्यनुकार्यते ॥५२॥

जिस प्रकार किसीको नाचता या गाता देखकर मनुष्य स्वयं भी तान तोड़ने लगता है उसी प्रकार बुद्धिके गुणोंको देखकर आत्मा अकर्ता होकर भी उनका अनुकरण करनेके लिये बाध्य हो जाता है।

यथाम्भसा प्रचलता तरवोऽपि चला इव।
चक्षुषा भ्राम्यमाणेन दृश्यते भ्रमतीव भूः ॥५३॥
यथा मनोरथधियो विषयानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः ॥५४॥

जैसे जलके चलनेसे उसमें प्रतिबिम्बित वृक्ष भी चलते हुए मालूम पड़ते हैं, चारों ओर वेगसे घुमाये हुए नेत्रोंसे पृथिवी घूमती हुई-सी दिखलायी देती है तथा जैसे मनोराज्यसे कल्पित विषयोंका और स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंका अनुभव मिथ्या होता है, वैसे ही हे दाशार्ह! आत्माको इस मनोमात्रकल्पित संसारका अनुभव मिथ्या ही हो रहा है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥५५॥

अतः [वस्तुतः] पदार्थोंके विद्यमान न रहनेपर भी विषयों-का चिन्तन करते रहनेके कारण संसारकी निवृत्ति नहीं होती

जैसे कि स्वप्नमें [वास्तवमें विपत्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी] अनिष्टकी प्रतीति होती है।

तस्मादुद्धव मा भुङ्क्ष्व विषयानसदिन्द्रियैः।
आत्माग्रहणनिर्भातं पश्य वैकल्पिकं[1] भ्रमम् ॥५६॥

इसलिये हे उद्धव ! इन असत् इन्द्रियोंसे विषयोंको मत भोगो; इस सम्पूर्ण संसार-भ्रमको आत्मस्वरूपके अज्ञानसे ही भासित होता हुआ समझो।

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽथवा[2]।
ताडितः संनिबद्धो[3] वा वृत्त्या[4] वा परिहापितः ॥५७॥
निष्ठितो मूत्रितो वाज्ञैर्बहुधैवं प्रकम्पितः[5]।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥५८॥

असाधु पुरुष तिरस्कार करें, अपमान करें, हँसें, निन्दा करें, मारें, बाँधें, आजीविकाका मार्ग बन्द कर दें, ऊपर थूक दें, अथवा मूत्र त्याग करें; इस प्रकार अज्ञानियोंद्वारा अनेक प्रकारसे विचलित किये जानेपर भी अपने आत्यन्तिक श्रेयकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको इन सम्पूर्ण कठिनाइयोंके उपस्थित होनेपर भी स्वयं ही अपना उद्धार करना चाहिये। [अर्थात् भगवद्-भजनमें लगे रहकर क्रोधादिके वशीभूत न होना चाहिये।]

यथैवमनुबुध्येयं वद नो[6] वदतां वर।
सुदुःसहमिमं मन्य आत्मन्यसदतिक्रमम् ॥५९॥

---

१. पा०—'आत्माग्रहणनिष्पन्नं पश्यन् वैकल्पिकं भ्रमम्'।

२. पा०—'अपि'। ३. पा०—'संनिरुद्धः'। ४. पा०—'भृत्या'।

५. पा०—'प्रकल्पितः'। ६. पा०—'भोः'।

उद्धवजी बोले—हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ ! दुष्ट पुरुषोंके अपमान आदि करनेपर विचलित न होना तो मुझे बड़ा कठिन जान पड़ता है; जिस प्रकार यह मेरी बुद्धिमें भलीभाँति आ जाय आप उसी प्रकार समझाकर कहिये।

विदुषामपि विश्वात्मन्प्रकृतिर्हि बलीयसी ।
ऋते त्वद्धर्मनिरतान् शान्तांस्ते चरणालयान् ॥६०॥

हे विश्वात्मन् ! जो आपके ही धर्मोंमें निरत हैं और आपके चरणोंके आश्रित होकर शान्तचित्त हो गये हैं उनको छोड़कर अन्य विवेकी पुरुषोंके लिये भी मैं इसे कठिन ही समझता हूँ, क्योंकि यह मानव-प्रकृति बड़ी ही बलवती है।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

तेईसवाँ अध्याय

एक तितिक्षु ब्राह्मणका इतिहास

बादरायणिरुवाच[1]

स एवमाशंसित उद्धवेन भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः[2] ।
सभाजयन्भृत्यवचो मुकुन्दस्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ उद्धवजीके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर जिनके पराक्रम श्रवण

१. पा०—'शुक उवाच'। २ पा०—'दाशार्हवर्यः'।

करने योग्य हैं वे यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र अपने सेवकके प्रश्नकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे बृहस्पतिजीके शिष्य उद्धव! इस संसारमें ऐसे साधु पुरुष प्रायः नहीं मिलते जो दुर्जनोंके दुर्वाक्य-बाणोंसे विद्ध होनेपर अपने आपको सँभाल सकें।

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः ॥ ३ ॥

अत्यन्त मर्मस्थानोंमें लगे हुए बाणोंसे भी मनुष्य ऐसा पीड़ित नहीं होता जैसा कि चित्तमें सदा खटकनेवाले दुष्टजनोंके कुवाक्य-बाणोंसे होता है।

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः ॥ ४ ॥

हे उद्धव! इस प्रसंगमें एक अति पवित्र प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है, वह मैं तुमको सुनाता हूँ, खूब सावधान होकर सुनो।

केनचिद्भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम् ॥ ५ ॥

किसी भिक्षुने दुर्जनोंद्वारा सताये जानेपर उसे धैर्यपूर्वक

१. पा०—'रुजन्ति'। २. पा०—'मर्मस्था असताम्'।
३. पा०—'निजकर्मणः'।

अपने कर्मोंके फलरूपसे स्मरण करते हुए जो कुछ कहा था [वह इसमें बतलाया गया है]।

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६॥

उज्जयिनीपुरीमें एक बहुत बड़ा धनाढ्य ब्राह्मण रहता था, वह कृषि-वाणिज्यादि व्यवसाय करता था और अत्यन्त कृपण, कामी, लोभी और क्रोधी था।

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः[1]।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७॥

उसने जाति-भाइयों और अतिथियोंका वाणीमात्रसे भी सत्कार नहीं किया और धर्म-कर्मसे रहित गृहमें निवास करते हुए उसने अपने शरीरको भी सामयिक सुखोंसे वञ्चित कर रक्खा था।

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन्प्रियम्॥ ८॥

उस दुष्ट स्वभाववाले और कृपण ब्राह्मणके पुत्र, बन्धु, स्त्री, कन्या और नौकर-चाकर भी उससे दुःखी रहनेके कारण द्रोह करते थे और कभी उसका हित-साधन नहीं करते थे।

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९॥

इस प्रकार यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाले, दान और भोगसे रहित होनेके कारण दोनों लोकोंसे पतित उस ब्राह्मणसे पञ्चयज्ञके भागी देवगण कुपित हुए।

---

१. पा०—'वाङ्मात्रेणाप्यनर्चिताः'।

तद्वध्यान[1]विस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद ।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः ॥१०॥

हे अति उदार उद्धव ! देवताओंका अपमान करनेसे उसका पूर्व-पुण्य क्षीण हो गया और उसका अति कष्टसे सञ्चित किया हुआ केवल पीडा देनेवाला सारा धन भी नष्ट हो गया ।

ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित्किञ्चिद्दस्यव उद्धव ।
दैवतः कालतः किञ्चिद्ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात् ॥११॥

उस ब्राह्मणाधमका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये, कुछ दैव और कालसे नष्ट हो गया और कुछ राजा तथा अन्य मनुष्योंने छीन लिया ।

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः ।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम् ॥१२॥

इस प्रकार धनके नष्ट हो जानेपर धर्म-कर्मसे रहित और स्वजनोंसे तिरस्कृत उस ब्राह्मणको बड़ी भारी चिन्ता हुई ।

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः ।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत् ॥१३॥

धनके नाशसे सन्तप्त और खिन्न तथा आँसुओंकी बाढ़के कारण जिसका गला भर आया है ऐसे उस ब्राह्मणको दीर्घकालतक चिन्ता करते-करते महान् वैराग्य उत्पन्न हुआ ।

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः ।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः ॥१४॥

---

१. पा०—'तदभिध्यान०' ।

वह [मन-ही-मन] कहने लगा—ओह ! खेद है कि मैंने व्यर्थ ही इतने दिन अपने शरीरको सन्तप्त किया; जिस धनके लिये मैंने इतना कष्ट उठाया वह न धर्महीमें लगा और न काम (भोग)में ही।

प्रायेणार्था[1]: कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च ॥१५॥

कृपण पुरुषोंको धनसे प्रायः कोई सुख नहीं होता। इस लोकमें तो वह उनके चित्तको [कमानेकी चिन्तासे] सन्तप्त करनेके लिये होता है और मरनेपर उनके नरकका कारण होता है [क्योंकि उससे धर्म तो होता ही नहीं है]।

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान्हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥१६॥

जिस प्रकार थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्ग-सुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है उसी प्रकार तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यशको और गुणवानोंके प्रशंसनीय गुणोंको नष्ट कर देता है।

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम् ॥१७॥

धनके उपार्जनमें और उपार्जन कर लेनेपर उसकी वृद्धि, रक्षा एवं व्यय करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें मनुष्योंको निरन्तर परिश्रम, कष्ट, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है।

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥१८॥

१. पा०—'अर्थः'।

एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥१९॥

चोरी, हिंसा, मिथ्या-भाषण, पाखण्ड, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा (होड़) और [स्त्री, द्यूत एवं मद्यके] व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंको धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये कल्याणकी इच्छावाला पुरुष इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर दे।

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना[1] सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥२०॥

भाई-बन्धु, स्त्री, माता-पिता तथा सुहृद्, जो स्नेह-बन्धनसे बँधकर बिल्कुल एक हुए रहते हैं, वे सब-के-सब एक कानी कौड़ीके कारण अलग-अलग होकर तुरन्त ही शत्रु हो जाते हैं।

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशुस्पृधो[2] घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥२१॥

ये समस्त सम्बन्धी थोड़े-से भी धनके कारण क्षुब्ध और अत्यन्त क्रोधवश हो जाते हैं, तथा तुरन्त एक-दूसरेको छोड़ देते हैं और डाहपूर्वक सम्पूर्ण स्नेहको भूलकर एक-दूसरेके सर्वनाशकी घातमें लगे रहते हैं।

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद्द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम् ॥२२॥

जो इस देवदुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर और उसमें भी

१. पा०—'कारुणिकाः'। २. पा०—'वृथा'।

उत्तम ब्राह्मण होकर इसका अनादर करके अपने परम स्वार्थ (मोक्ष) का नाश करते हैं वे महानीच गतिको प्राप्त होते हैं।

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि ॥२३॥

स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के द्वाररूप इस मनुष्य-देहको पाकर कौन मनुष्य इस अनर्थोंके आश्रय धनमें आसक्ति करेगा ?

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन्बन्धूंश्च[1] भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः ॥२४॥

जो मनुष्य देव, ऋषि, पितृगण, भूतगण, जातिवाले, कुटुम्बी और उस धनके अन्य भागियोंको अपने धनद्वारा सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसे भोगता है वह यक्षके समान धनकी रक्षा करनेवाला कृपण पुरुष अवश्य अधोगतिको प्राप्त होता है।

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये ॥२५॥

मुझ उन्मत्तकी अवस्था और बल-पुरुषार्थ, जिनसे कि विवेकी-लोग सिद्धि (मोक्ष) प्राप्त कर लेते हैं, धन-सञ्चयकी व्यर्थ चेष्टामें नष्ट हो गये, अब मैं वृद्ध हो गया, क्या करूँ ?

कस्मात्संक्लिश्यते विद्वान्व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः ॥२६॥

विवेकी पुरुष धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों सन्तप्त होते हैं? निश्चय ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है।

१. पा०—'ज्ञातीनन्यांश्च'।

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत ।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः ॥२७॥

यह मनुष्य-देह कालके गालमें पड़ा हुआ है; इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओंसे, कामनाओंसे या कामनाओंको पूरी करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाले काम्य कर्मोंसे क्या लाभ ?

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः ।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः ॥२८॥

अवश्य ही सर्वदेवमय भगवान् हरि मुझपर प्रसन्न हुए हैं, जिससे कि मुझे यह दशा और संसार-सागरसे तरनेके लिये नौकारूप निर्वेद प्राप्त हुए हैं ।

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः ।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे[1] यदि स्यात्सिद्ध आत्मनि ॥२९॥

अतः अब यदि आयु शेष रही तो अपने समस्त धर्मसाधनोंमें सावधान और चित्तमें सन्तुष्ट रह मैं शेष सारा समय [तपस्याद्वारा] अपने शरीरको सुखानेमें बिताऊँगा ।

तत्र मामनुमोदेरन्देवास्त्रिभुवनेश्वराः ।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत् ॥३०॥

तीनों लोकोंके नायक देवगण मेरे इस संकल्पका अनुमोदन करें । राजा खट्वाङ्गने तो एक मुहूर्तभरमें ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लिया था [मेरे लिये तो अभी बहुत समय बाकी है] ।

१. पा०—'अखिलार्थेषु' ।

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः ।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः ॥३१॥

श्रीभगवान् बोले—वह अवन्ति-देशवासी ब्राह्मण मनमें इस प्रकार निश्चय करके, अपने हृदयकी अहंता-ममतारूप ग्रन्थियोंको त्यागकर शान्त और मौनभिक्षु (संन्यासी) हो गया ।

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः ।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत् ॥३२॥

मन, इन्द्रिय और प्राणोंका संयम करके वह सब ओरसे अनासक्त हो पृथिवी-तलपर विचरने लगा । केवल भिक्षाके लिये ही अलक्षित भावसे (अपनी उत्तमता प्रकट न करते हुए) नगर या ग्राममें जाता था ।

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः ।
दृष्ट्वा पर्यभवन्भद्र[1] बह्वीभिः परिभूतिभिः ॥३३॥

हे भद्र ! उस वृद्ध अवधूत भिक्षुको देखकर कितने ही दुष्ट-लोग उसका नाना प्रकारसे अपमान करके उसे तंग करते थे ।

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्[2] ।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन ॥३४॥

कोई उसका दण्ड छीन लेता, कोई पात्र और कमण्डलु उठा ले जाता, कोई आसन, कोई अक्षमाला, कोई कन्था और कोई उसके वस्त्र ले भागता ।

१. पा०—'पर्यभवंस्तत्र' । २. पा०—'पात्रकमण्डलू' ।

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः ।
अन्नं च भैक्ष्यसंपन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे ॥३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि ।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत् ॥३६॥

फिर उन्हें दिखलाते हुए देने लगते और [जब वह ले लेता तो] पुनः उस मुनिसे उन्हें छीन लेते । भिक्षा माँगकर जब बाहर नदी-तटपर वह भोजन करने बैठता तो वे पापीलोग उसके ऊपर मूत देते और थूक देते । वह मौन था इसलिये उससे कुछ बुलवानेकी चेष्टा करते और इसपर भी यदि वह न बोलता तो उसे पीटते ।

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः ।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद्बध्यतां बध्यतामिति ॥३७॥

कोई-कोई 'यह चोर है'—ऐसा कहकर उसका तिरस्कार करते और कोई 'बाँधो, बाँधो'—ऐसा कहकर उसको रस्सीसे बाँधते ।

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः ।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत्स्वजनोज्झितः ॥३८॥

कोई निरादरपूर्वक इस प्रकार कुवाक्य कहकर उसकी निन्दा करते कि देखो, यह दुष्ट अब कैसा धर्मका ढोंग बनाये हुए है, धन नष्ट हो गया है और घरवालोंने इसे घरसे निकाल दिया है तो अब इसने यह वृत्ति ग्रहण कर ली है ।

अहो एष महासारो धृतिमान्गिरिराडिव ।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद्दृढनिश्चयः ॥३९॥

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति[1] च ।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम् ॥४०॥

देखो तो, पर्वतराजके समान यह कैसा मोटा-मुष्टण्डा और अटल धैर्यवाला है; बगुलेके समान पक्का ढोंग रचकर यह गुपचुप अपना सब काम बना लेता है—इस प्रकार कहकर कोई उस ब्राह्मणकी हँसी करता, कोई उसपर अधोवायु छोड़ता और कोई तोता, मैना आदि पालतू पक्षियोंकी भाँति उसको बाँधकर घरमें बन्द कर देता।

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं[2] दैहिकं च यत् ।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत ॥४१॥

इस प्रकार भौतिक, दैविक और दैहिक जैसे-जैसे दुःख उसपर पड़ते, उन सबको वह अपना अवश्य-भोक्तव्य प्रारब्ध समझकर भोगता रहता।

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः ।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम् ॥४२॥

तथा धर्मसे गिरानेवाले उन दुष्ट लोगोंसे पीडित होनेपर वह अपने धर्ममें सात्त्विक धैर्यपूर्वक स्थिर रहकर इस गाथाको गाया करता था—

द्विज उवाच[3]

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः ।

१. पा०—'दुर्वादयन्ति'। २. पा०—'दैवज्ञ'।
३. प्राचीन प्रतिमें नहीं है।

मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत् ॥४३॥

ब्राह्मण कहता—ये स्वजन, देवगण, आत्मा, ग्रह, कर्म और काल आदि कोई भी मेरे सुख-दुःखके कारण नहीं हैं, इसका कारण तो एकमात्र मनको ही बतलाया जाता है जो कि इस संसार-चक्रको निरन्तर चलाया करता है।

मनो गुणान्वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति ॥४४॥

यह अति बलवान् मन ही गुणोंकी वृत्तियोंको उत्पन्न करता है, उन्हींसे सात्त्विक, राजस और तामस नाना प्रकारके कर्म होते हैं तथा उन कर्मोंके अनुकूल ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं।

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामा-
ञ्जुषन्निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ ॥४५॥

चेष्टा करनेवाले मनका नियन्ता होनेपर भी यह आत्मा निरीह (निष्क्रिय) है। यह हिरण्मय (विद्याशक्तिप्रधान) और मुझ जीवका सखा है तथा अतिरोहितज्ञान होकर देखता है। यह अपने द्योतक मनको ग्रहणकर नाना प्रकारके भोग भोगता हुआ गुणों (कर्मों) से सम्बद्ध हुआ बँधा रहता है।

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतानि कर्माणि च सद्व्रतानि ।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः ॥४६॥

दान, स्वधर्म (वर्णाश्रम-धर्म), नियम, यम, वेदाध्ययन, कर्म एवं शुभ व्रत—इन सबका अन्तिम फल मनोनिग्रह ही है और मनोनिग्रह ही परम योग है ।

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम् ।
असंयतं[1] यस्य मनो विनश्यद्-
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः ॥४७॥

जिसका मन शान्त और समाहित है बतलाओ, उसको दानादि कर्मोंकी क्या आवश्यकता है ? और जिसका मन असंयत होनेके कारण [आलस्य तथा विषय-वासनादिसे] नष्ट हो रहा है उसको इन दानादि शुभ कर्मोंसे लाभ ही क्या है ?

मनोवशेऽन्ये ह्यभवंस्म[2] देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति ।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः ॥४८॥

अन्य देवगण (इन्द्रियाँ) भी मनके ही वशमें हैं, मन उनमेंसे किसीके वशीभूत नहीं है । यह मन बलवान्‌से भी बलवान्

१. पा०—'न संयतम्' । २. पा०—'ह्यभवंश्च' ।

अति भयङ्कर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है वही देवदेव (इन्द्रियोंको जीतनेवाला) है।

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र[1] मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून्विमूढाः ॥४९॥

इस दुर्जय असह्यवेग और मर्मभेदी शत्रुको न जीतकर कितने ही मूढ़लोग इस संसारमें अन्य मनुष्योंके साथ व्यर्थ कलह करके उन्हें अपना मित्र, शत्रु अथवा उदासीन बना लेते हैं।

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति ॥५०॥

इस मनोमात्र देहमें अन्धबुद्धिलोग ममता और अहंतासे 'यह मैं हूँ और यह दूसरा है'—इस प्रकारका भेद-भ्रम करके अनन्त अज्ञानान्धकारमें पड़े भटकते रहते हैं।

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनश्चात्र हि भौमयोस्तत्।
जिह्वां क्वचित्संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ॥५१॥

यदि कोई मनुष्य सुख-दुःखका हेतु हो भी तो उससे

१. पा०—'एव'।

आत्माका क्या सम्बन्ध ? वह सुख-दुःख तो देहको ही होता है। यदि कोई [भोजनादिके समय] अपने ही दाँतोंसे अपनी जीभ काट ले तो उस वेदनाके लिये किसपर कोप करे।

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचि-
त्क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे ॥५२॥

यदि देवता ही दुःखके हेतु हों तो भी आत्माकी क्या हानि? वे दुःखादि तो उन विकारों (इन्द्रियाभिमानी देवताओं) को ही होते हैं। यदि अपने ही शरीरका कोई एक अङ्ग दूसरे अङ्गपर प्रहार करे तो ऐसी अवस्थामें पुरुष किसपर क्रोध करे?

आत्मा यदि स्यात्सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
न ह्यात्मनोऽन्यद्यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम् ॥५३॥

यदि आत्मा ही सुख-दुःखका हेतु हो तो वह भी अपना आप ही है, कोई अन्य नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ है नहीं और है तो मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख, फिर क्रोध कैसा?

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः ॥५४॥

यदि ग्रहोंको सुख-दुःखके निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा आत्माकी क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मरणशील देहपर ही होता है। और यह भी कहते हैं कि एक ग्रहकी दूसरे ग्रहपर दृष्टि पड़नेसे ग्रहको ही पीडा होती है, तो फिर उनसे अत्यन्त भिन्न पुरुष किसके प्रति क्रोध करे?

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित्पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम्॥५५॥

यदि कर्म सुख-दुःखके हेतु हों तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और अजड उभयरूप होनेपर हो सकते हैं।* किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका कोई आश्रय ही नहीं है, फिर क्रोध किसपर करे?

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चे-
त्किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥५६॥

यदि काल सुख-दुःखका हेतु हो तो उससे भी आत्माकी

* जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है उसीसे कर्म हो सकते हैं। अतः विकारयुक्त होनेके कारण उसे जड होना चाहिये और हिताहितका ज्ञान रहनेके कारण वह चेतन होनी चाहिये।

क्या हानि? काल तो उसका ही अंश है। जिस प्रकार अग्नि अग्निको नहीं जला सकता और बर्फ बर्फको ठण्डा नहीं कर सकता [उसी प्रकार आत्माका अंशभूत काल उसके द्वन्द्व (सुख-दुःख) का कारण नहीं हो सकता]। फिर क्रोध किसपर किया जाय? आत्माको तो किसी प्रकारका द्वन्द्व है नहीं।

न केनचित्क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः ॥५७॥

उस प्रकृतिसे अतीत आत्माको कभी किसीके द्वारा किसी प्रकार भी सुख-दुःखका संसर्ग नहीं हो सकता, यह तो संसृतिरूप अहङ्कारमें ही प्रतीत होते हैं—जो ऐसा जान लेता है वह फिर किसी भौतिक पदार्थसे भय नहीं मानता।

एतां समास्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव ॥५८॥

इस प्रकार पूर्ववर्ती महर्षियोंद्वारा आश्रित इस परमात्मनिष्ठामें स्थित होकर भगवान् मुकुन्दके चरण-कमलोंकी सेवाके द्वारा ही मैं इस अनन्तपार अज्ञान-सागरको सुगमतासे पार कर लूँगा।

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।

निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम् ॥५९॥

श्रीभगवान् बोले—इस प्रकार धन नष्ट हो जानेसे विरक्त और विश्रान्त होकर घरबार छोड़ पृथिवीपर विचरनेवाला वह ब्राह्मण दुष्टजनोंसे तिरस्कृत होनेपर भी अपने धर्ममें अटल रहता और इस गाथाका गान करता था।

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः ॥६०॥

इस संसारमें पुरुषको सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है। यह उसके चित्तका भ्रम ही है। मित्र, उदासीन और शत्रुरूप संसार अज्ञानका ही रचा हुआ है।

तस्मात्सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान्योगसंग्रहः ॥६१॥

इसलिये हे तात! मुझमें लगायी हुई बुद्धिके द्वारा अपनी सारी शक्ति लगाकर युक्तिपूर्वक मनका निग्रह करो; यही योगका सार-संग्रह है।

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयन् श्रावयन् शृण्वन्द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते ॥६२॥

जो कोई भिक्षुद्वारा कही गयी इस ब्रह्मनिष्ठाको सावधानतापूर्वक सुनता अथवा सुनाता हुआ धारण करता है वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशीभूत नहीं होता।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रयोविंशतितमोऽध्यायः ॥ २३ ॥

ॐ

चौबीसवाँ अध्याय

सांख्ययोग

श्रीभगवानुवाच

अथ ते संप्रवक्ष्यामि सांख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम् ।
यद्विज्ञाय पुमान्सद्यो जह्याद्वैकल्पिकं भ्रमम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! अब मैं तुम्हारे प्रति प्राचीन आचार्योंद्वारा निश्चित सांख्ययोगका वर्णन करता हूँ, जिसको जान लेनेपर पुरुषका प्रपञ्च-भ्रम नष्ट हो जाता है ।

आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम् ।
यदा विवेकनिपुणा आदौ कृतयुगेऽयुगे ॥ २ ॥

प्रलयकाल तथा सत्ययुगके आरम्भमें जब कि लोग विवेकसम्पन्न थे, ज्ञान और उसके विषय अर्थात् द्रष्टा और दृश्य एक निर्विकल्प रूपमें ही थे ।

तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोऽगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत् ॥ ३ ॥

फिर मन और वाणीसे अतीत वह एकमात्र निर्विकल्प बृहत् सत्य माया (दृश्य) और [उसके प्रकाशक] ज्ञान (द्रष्टा) रूपसे दो हो गया ।

तयोरेकतरो ह्यर्थः प्रकृतिः सोभयात्मिका[1] ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुषः सोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

---

१. पा०—'प्रकृतिश्चोभयात्मिका' ।

उनमेंसे एक (माया) को प्रकृति कहते हैं और वह दो प्रकारकी है तथा दूसरा ज्ञान है वह पुरुष कहलाता है ।

तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन्गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च[1] ॥ ५ ॥

जीवोंके अदृष्टानुसार मैंने प्रकृतिको क्षुभित किया । तब उससे सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकट हुए ।

तेभ्यः समभवत्सूत्रं महान्सूत्रेण संयुतः ।
ततो विकुर्वतो जातोऽहङ्कारो[2] यो विमोहनः ॥ ६ ॥

उनसे क्रियाशक्तिसम्पन्न सूत्र अर्थात् महत्तत्त्व हुआ और उस महत्तत्त्वसे अहङ्कार हुआ जो जीवको मोहमें डालनेवाला है ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिवृत् ।
तन्मात्रेन्द्रियमनसां कारणं चिदचिन्मयः ॥ ७ ॥

वह अहङ्कार वैकारिक (सात्त्विक), तैजस (राजस) और तामस भेदसे तीन प्रकारका है तथा पञ्चतन्मात्रा, इन्द्रिय और मनका कारण होनेसे जड-चेतनमय है ।

अर्थस्तन्मात्रिकाज्जज्ञे तामसादिन्द्रियाणि च ।
तैजसाद्देवता आसन्नेकादश च वैकृतात् ॥ ८ ॥

तामस-अहङ्काररूप पञ्चतन्मात्राओंसे पञ्चभूत, तैजस (राजस) अहङ्कारसे इन्द्रियाँ और वैकृत (सात्त्विक) अहंकारसे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता ग्यारह[3] देवता ये प्रकट हुए ।

---

१. पा०—'वा' । २. पा०—'योऽहङ्कारः' । ३. पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियोंके

मया संचोदिता भावाः सर्वे संहत्यकारिणः ।
अण्डमुत्पादयामासुर्ममायतनमुत्तमम् ॥ ९ ॥

मेरेद्वारा प्रेरित होकर इन समस्त कारण-तत्त्वोंने परस्पर मिलकर मेरा आश्रयरूप यह उत्तम अण्ड बनाया ।

तस्मिन्नहं समभवमण्डे सलिलसंस्थितौ ।
मम नाभ्यामभूत्पद्मं विश्वाख्यं तत्र चात्मभूः ॥१०॥

जलमें स्थित हो जानेपर उस अण्डमें मैं विराजमान हुआ, मेरी नाभिसे यह विश्व नामका कमल उत्पन्न हुआ और उससे स्वयम्भू ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई ।

सोऽसृजत्तपसा युक्तो रजसा मदनुग्रहात् ।
लोकान्सपालान्विश्वात्मा भूर्भुवः स्वरिति त्रिधा ॥११॥

उस विश्वात्मा ब्रह्माने तपस्या की और मेरे अनुग्रहसे रजोगुणद्वारा लोकपालोंसहित भूः (पृथिवी), भुवः (अन्तरिक्ष), स्वः (स्वर्ग)—इन तीनों लोकोंकी रचना की ।

देवानामोक आसीत्स्वर्भूतानां च भुवः पदम् ।
मर्त्यादीनां च भूर्लोकः सिद्धानां त्रितयात्परम् ॥१२॥

स्वर्लोक देवताओंका निवासस्थान हुआ, भुवर्लोक भूतगणके

अधिष्ठाता ग्यारह देवता हैं । पृष्ठ २६६ की टिप्पणीमें जिनका अधिदैवरूपसे वर्णन किया है उन्हें ही इन्द्रियाधिष्ठाता देवता समझना चाहिये ।

१. पा०—'तया' । २. पा०—'सलिलसंस्थिते' ।

लिये हुआ और भूर्लोकमें मनुष्य आदि प्राणी रहने लगे तथा सिद्धोंके रहनेके स्थान [महर्लोक, तपलोक आदि] इन तीनोंसे ऊपर हैं।

अधोऽसुराणां नागानां भूमेरोकोऽसृजत्प्रभुः।
त्रिलोक्यां गतयः सर्वाः कर्मणां त्रिगुणात्मनाम् ॥१३॥

उस जगत्प्रभु ब्रह्माने असुर और नागोंके लिये इस पृथिवी-तलके नीचे अतल, वितल, सुतल आदि सात पाताल बनाये हैं। इन तीनों लोकोंमें त्रिगुणात्मक कर्मोंके अनुसार ही सम्पूर्ण गतियाँ होती हैं।

योगस्य तपसश्चैव न्यासस्य गतयोऽमलाः।
महर्जनस्तपः सत्यं भक्तियोगस्य मद्गतिः ॥१४॥

योग, तप और संन्याससे महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक आदि उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती है, तथा भक्तियोगसे मेरा परमधाम मिलता है।

मया कालात्मना धात्रा कर्मयुक्तमिदं जगत्।
गुणप्रवाह एतस्मिन्नुन्मज्जति निमज्जति ॥१५॥

मुझ कालरूप विधाताकी प्रेरणासे ही यह जगत् कर्मकलापमें पड़ा हुआ गुणोंके प्रवाहमें कभी उछलता और कभी डूबता है। [अर्थात् कभी शुभ कर्मवश उन्नत होता है और कभी पापवश अधोगतिमें पड़ता है]।

अणुर्बृहत्कृशः स्थूलो यो यो भावः प्रसिध्यति।
सर्वोऽप्युभयसंयुक्तः प्रकृत्या पुरुषेण च ॥१६॥

अणु (छोटा), महान् (बड़ा), कृश (पतला), स्थूल

(मोटा) जो-जो भी पदार्थ उत्पन्न होता है वह पुरुष और प्रकृति दोनोंसे मिलकर ही बनता है।

यस्तु यस्यादिरन्तश्च स वै मध्यं च तस्य सन्।
विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः ॥१७॥

जो पदार्थ जिसके आदि और अन्तमें रहता है उसके मध्यमें भी उसीकी सत्ता होती है और वही सत्य भी है, उसके विकार तो केवल व्यवहारके लिये ही होते हैं; जैसे कि सुवर्णके विकार कङ्कणादि और मृत्तिकाके विकार घड़ा-शकोरा आदि।

यदुपादाय पूर्वस्तु भावो विकुरुतेऽपरम्।
आदिरन्तो यदा यस्य तत्सत्यमभिधीयते ॥१८॥

जब किसी परम उपादान (कारण) के आश्रयसे किसी दूसरे कार्यरूप भावको पूर्व उपादान कारण उत्पन्न करता है, तो जो जिसके आदि और अन्तमें रहता है वही 'सत्य' कहा जाता है।*

प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः।
सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत्त्रितयं त्वहम् ॥१९॥

इस कार्य-प्रपञ्चकी उपादान प्रकृति है, इसका अधिष्ठान परमात्मा है और अभिव्यञ्जक (प्रकट करनेवाला) काल है। ये तीनों शुद्ध ब्रह्मरूप मैं ही हूँ। [क्योंकि मैं ही इन सबका आदि उपादान-कारण हूँ]।

सर्गः प्रवर्तते तावत्पौर्वापर्येण नित्यशः।
महान्गुणविसर्गार्थः स्थित्यन्तो यावदीक्षणम् ॥२०॥

* जिस प्रकार मृत्पिण्ड अपनी उपादानभूत मृत्तिकाके द्वारा ही घटकी उत्पत्ति करता है, तो घटके आदि और अन्तमें रहनेके कारण मृत्तिका ही सत्य है।

जबतक परमात्माकी दृष्टि रहती है तबतक जीवकृत कर्मोंके फलभोगके लिये पितृ-पुत्र-परम्परासे यह संसार निरन्तर चलता रहता है ।

विराण्मयासाद्यमानो लोककल्पविकल्पकः ।
पञ्चत्वाय विशेषाय कल्पते भुवनैः सह ॥२१॥

यह उत्पत्ति-नाशशील संसार जो विराट्रूपसे स्थित है प्रलयकालके आनेपर अपने सातों भुवनोंके सहित पञ्चत्व (नाश) को प्राप्त हो जाता है । अर्थात् इसके पञ्चीकृत भूत अपने-अपने कारणमें लीन होने लगते हैं ।

अन्ने प्रलीयते मर्त्यमन्नं[1] धानासु लीयते ।
धाना भूमौ प्रलीयन्ते भूमिर्गन्धे प्रलीयते ॥२२॥
अप्सु प्रलीयते गन्ध आपश्च स्वगुणे रसे ।
लीयते ज्योतिषि रसो ज्योती रूपे प्रलीयते ॥२३॥
रूपं वायौ स च स्पर्शे लीयते सोऽपि चाम्बरे ।
अम्बरं शब्दतन्मात्र इन्द्रियाणि स्वयोनिषु ॥२४॥

उस समय मर्त्य शरीर अन्नमें, अन्न बीजमें, बीज भूमिमें, भूमि गन्धमें, गन्ध जलमें, जल अपने गुण रसमें, रस तेजमें, तेज रूपमें, रूप वायुमें, वायु स्पर्शमें, स्पर्श आकाशमें तथा आकाश शब्दतन्मात्रामें लीन हो जाता है; और इन्द्रियाँ अपने कारण राजस अहङ्कारमें लीन हो जाती हैं ।

योनिर्वैकारिके सौम्य लीयते मनसीश्वरे ।
शब्दो भूतादिमप्येति भूतादिर्महति प्रभुः ॥२५॥

---

१. पा०—'मर्त्योऽन्नम्' ।

हे सौम्य ! राजस अहङ्कार वैकारिक (सात्त्विक) अहङ्काररूप मनमें, शब्दतन्मात्रा पञ्चभूतोंके कारणभूत तामस अहङ्कारमें और सम्पूर्ण जगत्को मोहित करनेमें समर्थ [तीनों प्रकारका] अहङ्कार महत्तत्त्वमें लीन हो जाता है।

स लीयते महान्स्वेषु गुणेषु गुणवत्तमः।
तेऽव्यक्ते संप्रलीयन्ते तत्काले लीयतेऽव्यये ॥२६॥

वह ज्ञान और क्रियाशक्तिसम्पन्न महत्तत्त्व अपने कारण गुणोंमें लीन हो जाता है और गुण अव्यक्त प्रकृतिमें तथा प्रकृति अपने प्रेरक अव्यय कालमें लय हो जाती है।

कालो मायामये जीवे जीव आत्मनि मय्यजे।
आत्मा केवल आत्मस्थो विकल्पापायलक्षणः ॥२७॥

काल मायामय जीवमें तथा जीव मुझ अजन्मा आत्मामें लीन हो जाता है। आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है [उसका किसीमें लय नहीं होता] वह जगत्की सृष्टि और लयका अधिष्ठान तथा अवधिरूप है।

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः ॥२८॥

इस प्रकार विचारपूर्वक देखनेवाले पुरुषके चित्तमें यह प्रपञ्च-भ्रम किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? और यदि उसकी स्फूर्ति हो भी जाय तो वह अधिक कालतक हृदयमें ठहर कैसे सकता है ? जिस प्रकार आकाशमण्डलमें सूर्यका उदय होनेपर अन्धकार नहीं ठहर सकता है।

एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः[1] ।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया ॥२९॥

इस प्रकार कार्य-कारणके साक्षी मैंने तुम्हें अनुलोम-प्रतिलोम (सृष्टिसे प्रलय और प्रलयसे सृष्टिके) क्रमसे संशयरूप हृदयग्रन्थिको खोलनेवाली यह सांख्यविधि सुनायी है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥

पचीसवाँ अध्याय

तीनों गुणोंकी वृत्तियोंका निरूपण

श्रीभगवानुवाच

गुणानामसम्मिश्राणां पुमान्येन यथा भवेत् ।
तन्मे पुरुषवर्येदमुपधारय शंसतः ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे नरश्रेष्ठ उद्धव ! अलग-अलग गुणोंमेंसे जिस गुणके कारण पुरुष जैसी प्रकृतिका होता है सो मैं तुमको सुनाता हूँ, श्रवण करो ।

शमो दमस्तितिक्षेक्षा तपः सत्यं दया स्मृतिः ।
तुष्टिस्त्यागोऽस्पृहा श्रद्धा ह्रीर्दयादिः स्वनिर्वृतिः ॥ २ ॥

शम, दम, तितिक्षा, विवेक, तप, सत्य, दया, स्मृति (पूर्वापरका विचार रखना), सन्तोष, दान, विषयोंमें अनिच्छा, श्रद्धा, लज्जा, दया तथा आत्मरति [—ये सत्त्वगुणकी वृत्तियाँ हैं] ।

१. पा०—'भेषजः' ।

कामं ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम् ।
मदोत्साहो यशःप्रीतिर्हास्यं वीर्यं बलोद्यमः ॥ ३ ॥

कामना, कर्म, अभिमान, तृष्णा, गर्व, सुखलालसा, भेद-बुद्धि, विषयसुख, मदजनित उत्साह, अपनी प्रशंसामें प्रेम, हास्य, पुरुषार्थ, बल और उद्यम [—ये रजोगुणसे होते हैं] ।

क्रोधो लोभोऽनृतं हिंसा याच्ञा दम्भः क्लमः कलिः ।
शोकमोहौ विषादार्ती निद्राशा भीरनुद्यमः ॥ ४ ॥

क्रोध, लोभ, मिथ्याभाषण, हिंसा, याचना, पाखण्ड, श्रम, कलह, शोक, मोह, क्लेश, दीनता, निद्रा, आशा, भय और अनुद्योग [—इनका कारण तमोगुण है] ।

सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः ।
वृत्तयो वर्णितप्रायाः सन्निपातमथो शृणु ॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रमसे यह सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणकी वृत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया; अब उनके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंको सुनो ।

सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः ।
व्यवहारः सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिः ॥ ६ ॥

हे उद्धव ! 'मैं हूँ, मेरा है' इस प्रकारकी बुद्धिमें तीनों गुणोंका समावेश है, [क्योंकि इससे 'मैं शान्त हूँ, मैं कामी हूँ, मैं क्रोधी हूँ'—ऐसा तीनों प्रकारका व्यवहार हो सकता है ।] मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियाँ और प्राण इन सबके मेलसे जो व्यवहार होता है उसमें तीनों गुणोंका समावेश होता है ।

धर्मे चार्थे च कामे च यदासौ परिनिष्ठितः ।
गुणानां सन्निकर्षोऽयं श्रद्धारतिधनावहः ॥ ७ ॥

जब पुरुष धर्म, अर्थ और काममें प्रवृत्त होता है तो यह भी तीनों गुणोंका सन्निपात (मेल) ही है, यह सन्निपात परिणाममें उसे श्रद्धा, रति और धनकी प्राप्ति करानेवाला है ।

प्रवृत्तिलक्षणे निष्ठा पुमान्यर्हि गृहाश्रमे ।
स्वधर्मे चानुतिष्ठेत गुणानां समितिर्हि सा ॥ ८ ॥

जिस समय पुरुषकी सकाम कर्मानुष्ठानमें प्रीति हो, गृहस्थाश्रममें आसक्ति हो और अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता हो, उस समय उसमें तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये ।

पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः ।
कामादिभी रजोयुक्तं क्रोधाद्यैस्तमसा युतम् ॥ ९ ॥

[इस प्रकार तीनों गुणोंके मेलसे होनेवाली वृत्तियोंको दिखाकर अब उनमेंसे प्रत्येकके प्राधान्यसे पुरुषका जैसा स्वभाव होता है वह बतलाते हैं—] सत्त्वगुणी पुरुषका शमदमादि गुणोंसे, रजोगुणीका कामादिसे और तमोगुणीका क्रोधादिसे अनुमान करना चाहिये ।

यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः ।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात्पुरुषं स्त्रियमेव वा ॥१०॥

जो पुरुष या स्त्री, जिस समय अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोंद्वारा निष्कामतासे मेरा भजन करे तब उसे सत्त्वगुणी जानना चाहिये ।

यदा आशिष आशास्य मां भजेत[1] स्वकर्मभिः ।
तं रजःप्रकृतिं विद्याद्धिंसामाशास्य तामसम् ॥११॥

जब वह सकामतापूर्वक स्वकर्मोंसे मेरा भजन-पूजन करे तब रजोगुणी और जब हिंसा (शत्रुमारणादि) की इच्छासे मुझे भजे तब तमोगुणी समझे ।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा जीवस्य नैव मे ।
चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमानो निबध्यते ॥१२॥

सत्त्व, रज और तम—ये गुण जीवके हैं, मेरे नहीं; जिनके द्वारा भूतोंमें (शरीर अथवा अन्य भौतिक पदार्थोंमें) आसक्त हो जानेसे जीव बन्धनमें पड़ जाता है ।

यदेतरौ जयेत्सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम् ।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान् ॥१३॥

जिस समय प्रकाशमान स्वच्छ और शान्त सत्त्वगुण रज और तमको दबाकर बढ़ता है उस समय पुरुष सुख, धर्म और ज्ञानादिसे सम्पन्न हो जाता है ।

यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम् ।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया ॥१४॥

जिस समय आसक्ति, भेद-बुद्धि और प्रवृत्तिका बढ़ानेवाला रजोगुण तम और सत्त्वका पराभव करके बढ़ता है तो पुरुष दुःख, कर्म, यश और सम्पत्तिसे युक्त हो जाता है ।

---

१. पा०—'यजेत' ।

यदा जयेद्रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया ॥१५॥

तथा जिस समय अज्ञान, आवरण और जडरूप तमोगुण रज और सत्त्वको जीतकर बढ़ता है उस समय पुरुष शोक, मोह, निद्रा, हिंसा और आशासे युक्त हो जाता है।

यदा चित्तं प्रसीदेत इन्द्रियाणां च निर्वृतिः।
देहेऽभयं मनोऽसङ्गं तत्सत्त्वं विद्धि मत्पदम् ॥१६॥

जब चित्त प्रसन्न हो, इन्द्रियाँ शान्त हों, देह निर्भय हो, तथा मन अनासक्त हो तब समझो कि मेरी प्राप्तिके कारणरूप सत्त्वगुणका आविर्भाव हुआ है।

विकुर्वन्क्रियया चाधीरनिर्वृत्तिश्च चेतसाम्।
गात्रास्वास्थ्यं मनो भ्रान्तं रज एतैर्निशामय ॥१७॥

जब पुरुष क्रियासे विकृत हो जाय, बुद्धि चञ्चल हो उठे, ज्ञानेन्द्रियाँ अशान्त हो जायँ, शरीर अस्वस्थ हो और मन भ्रममें पड़ जाय तब रजोगुणकी प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

सीदच्चित्तं विलीयेत चेतसो ग्रहणेऽक्षमम्।
मनो नष्टं तमो ग्लानिस्तमस्तदुपधारय ॥१८॥

जिस समय ज्ञानेन्द्रियजनित ज्ञानके ग्रहणमें असमर्थ और खिन्न होकर चित्त लीन होने लगे, मन शून्यवत् हो जाय, तथा अज्ञान और ग्लानिकी वृद्धि हो तब तमोगुणको बढ़ा हुआ समझो।

एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।
असुराणां च रजसि तमस्युद्धव रक्षसाम् ॥१९॥

हे उद्धव ! सत्त्वगुणके बढ़नेपर देवताओंका बल बढ़ता है, रजोगुणके बढ़नेपर असुरोंका और तमोगुणके बढ़नेपर राक्षसोंका बल बढ़ता है ।

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापं तमसा जन्तोस्तुरीयं त्रिषु संततम् ॥२०॥

सत्त्वगुणसे जीवकी जाग्रत् अवस्था समझनी चाहिये, रजोगुणसे स्वप्न जानना चाहिये, और तमोगुणसे सुषुप्ति माननी चाहिये । तथा तुरीय-अवस्था [जो कि शुद्ध और एकरस आत्मा ही है] इन तीनोंमें व्याप्त है ।

उपर्युपरि गच्छन्ति सत्त्वेन ब्राह्मणा जनाः ।
तमसाधोऽध आमुख्याद्रजसान्तरचारिणः ॥२१॥

[ब्रह्म तथा वेदाभ्यासमें तत्पर] ब्राह्मणलोग सत्त्वगुणके द्वारा उत्तरोत्तर ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, तमोगुणसे पुरुषोंको स्थावरपर्यन्त अधोगति प्राप्त होती है तथा रजोगुणसे मनुष्य-शरीर मिलता है ।

सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति नरलोकं रजोलयाः ।
तमोलयास्तु निरयं[1] यान्ति मामेव निर्गुणाः ॥२२॥

सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय लीन होने (मरने) वाले स्वर्गको, रजोगुणमें लीन होनेवाले मनुष्यलोकको तथा तमोगुणमें लीन होनेवाले नरकको जाते हैं और निर्गुण (त्रिगुणातीत) जीवन्मुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत् ।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम् ॥२३॥

१. पा०—'नरकम्' ।

जो स्वकर्म फलको मेरे अर्पण करके अथवा निष्काम भावसे किया जाता है वह सात्त्विक होता है, फल-प्राप्तिके संकल्पसे किया हुआ कर्म राजस होता है और हिंसा-दम्भादि-युक्त कर्म तामस होता है ।

कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥२४॥

आत्माकी असंगताका ज्ञान सात्त्विक है, उसको कर्त्ता-भोक्ता जानना राजस है तथा [बाल-मूकादिके समान] साधारण सांसारिक ज्ञान तामस है, और मेरे स्वरूपका ज्ञान निर्गुण है ।

वनं तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते ।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतं तु निर्गुणम् ॥२५॥

वनमें रहना सात्त्विक है, ग्राममें रहना राजस कहा जाता है और जूआ-घरका निवास तामस है तथा मेरे स्वरूपमें अथवा मेरे मन्दिरोंमें रहना निर्गुण है ।

सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः ।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥२६॥

अनासक्त होकर कर्म करनेवाला सात्त्विक है, रागयुक्त होकर करनेवाला राजस माना गया है और पूर्वापर-विचारसे रहित होकर कर्म करनेवाला तामस है । तथा जो निरहंकार और मेरे आश्रित होकर कर्ममें प्रवृत्त होता है वह निर्गुण है ।

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥२७॥

आत्मज्ञानकी श्रद्धा सात्त्विकी है, कर्मकी राजसी है और जो श्रद्धा अधर्ममें होती है वह तामसी है। तथा मेरी सेवा-पूजाकी श्रद्धा निर्गुणा है।

पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्तिदाशुचि ॥२८॥

पथ्य, पवित्र और अनायास प्राप्त हुआ आहार सात्त्विक माना गया है, रसनेन्द्रियको रुचिकर राजस होता है तथा दुःख-दायी और अपवित्र आहार तामस है।

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ॥२९॥

आत्मासे प्राप्त सुख सात्त्विक है, विषयोंसे प्राप्त राजस है तथा मोह और दीनतासे प्राप्त सुख तामस है और मुझसे प्राप्त होनेवाला सुख निर्गुण है।

द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि ॥३०॥

इस प्रकार द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, अवस्था, क्रिया और निष्ठा—सभी त्रिगुणात्मक हैं।

सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः[1]।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ ॥३१॥

हे पुरुषश्रेष्ठ उद्धव! पुरुष और प्रकृतिसे अधिष्ठित सभी देखे-सुने और बुद्धिद्वारा जाने गये पदार्थ त्रिगुणमय हैं।

१. पा०—'०निष्ठिताः'।

एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः ।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः ।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥३२॥

हे सौम्य ! पुरुषको यह त्रिगुणमय संसार-बन्धन गुण-कर्मवश प्राप्त होता है । जो जीव इन चित्त-जन्य गुणोंको भक्ति-योगद्वारा मुझमें निष्ठा करके जीत लेता है, वह मेरे स्वरूप (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ।

तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसंभवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥३३॥

अतः ज्ञान-विज्ञान-प्राप्तिके साधनरूप इस शरीरको पाकर विचारवान् पुरुष गुण-सङ्गका त्याग करके मेरा भजन करें ।

निःसङ्गो मां भजेद्विद्वानप्रमत्तो जितेन्द्रियः ।
रजस्तमश्चाभिजयेत्सत्त्वसंसेवया मुनिः ॥३४॥

विवेकी और मननशील पुरुषको चाहिये कि सत्त्वगुणके सेवनद्वारा रज और तमका पराभव करके इन्द्रियसंयमपूर्वक आसक्ति और प्रमादको छोड़कर मेरा भजन करे ।

सत्त्वं चाभिजयेद्युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः ।
संपद्यते गुणैर्मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम् ॥३५॥

और फिर शान्तचित्त तथा निरपेक्ष होकर युक्तिपूर्वक सत्त्वगुणको भी जीते, तदनन्तर गुणोंसे मुक्त जीव अपने जीवत्वको छोड़कर मुझको प्राप्त हो जाता है ।

जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैश्चाशयसंभवैः ।
मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत् ॥३६॥

इस प्रकार जीव लिङ्ग-शरीररूप अपनी उपाधि तथा अन्तः-करण-जनित गुणोंसे छूटकर मुझ ब्रह्मकी प्राप्तिसे परिपूर्ण हो जाता है, और फिर बाह्य अथवा आन्तरिक किसी प्रकारके विषयोंमें नहीं जाता ।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
पञ्चविंशतितमोऽध्यायः ॥२५॥



छब्बीसवाँ अध्याय

ऐल गीत

श्रीभगवानुवाच

मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः[1] ।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! मेरे लक्षणोंसे युक्त [अर्थात् मेरे स्वरूप-ज्ञानके साधन] इस मनुष्य-देहको पाकर जो मेरे भागवतधर्मोंमें स्थित रहता है वह अपने अन्तःकरणमें स्थित आनन्द-स्वरूप मुझ परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।

गुणमय्या जीवयोन्या विमुक्तो ज्ञाननिष्ठया ।
गुणेषु मायामात्रेषु दृश्यमानेष्ववस्तुतः ।
वर्तमानोऽपि न पुमान्युज्यतेऽवस्तुभिर्गुणैः ॥ २ ॥

१. पा०—'अवस्थितः' ।

ज्ञाननिष्ठाके द्वारा गुणमयी जीवावस्थासे मुक्त होकर यह पुरुष अवास्तविकरूपसे प्रतीत होते हुए मायामात्र गुणोंमें वर्तमान रहता हुआ भी उनके अवास्तविक (मिथ्या) गुणोंसे युक्त नहीं होता।

सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित्।
तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत्॥ ३॥

विषय-सेवन और पेट-पालनमें ही मस्त रहनेवाले असत्-पुरुषोंका संग कभी न करे; उनका अनुगमन (सङ्ग) करनेसे अन्धेके पीछे जानेवाले अन्धेके समान पुरुष घोर अन्धकारमें पड़ता है।

ऐलः[1] सम्राडिमां गाथामगायत बृहच्छ्रवाः।
उर्वशीविरहान्मुह्यन्निर्विण्णः शोके[2]संयमे॥ ४॥

महान् यशस्वी, राजराजेश्वर, इलापुत्र महाराज पुरूरवाने उर्वशीके विरहसे मोहित होकर खेद करते हुए उस शोकका अन्त होनेपर इस प्रकार कहा था।

त्यक्त्वात्मानं व्रजन्तीं तां नग्न उन्मत्तवन्नृपः।
विलपन्नन्वगाज्जाये घोरे तिष्ठेति विक्लवः॥ ५॥

अपनेको छोड़कर जाती हुई उस उर्वशीके पीछे राजा पुरूरवा व्याकुल होकर उन्मत्तके समान नग्नावस्थामें ही 'अरी! कठोर कामिनी! ठहर जा'—ऐसा कहते और रोते हुए दौड़े।

कामानतृप्तोऽनुजुषन्क्षुल्लकान्वर्षयामिनीः।
न वेद यान्तीर्नायान्तीरुर्वश्याकृष्टचेतनः॥ ६॥

१. पा०—'ऐडः'। २. पा०—'शोकसंगरे'।

उर्वशीमें आसक्तचित्त हुए पुरूरवाने क्षुद्र भोगोंको भोगते हुए अतृप्त भावसे वर्षोंतक रात्रियोंको आते और जाते नहीं जाना।

ऐल उवाच

अहो मे मोहविस्तारः कामकश्मलचेतसः।
देव्या गृहीतकण्ठस्य नायुःखण्डा इमे स्मृताः॥ ७॥

[वैराग्य होनेपर] पुरूरवाने कहा—ओह! मुझ काम-कलुषित चित्तके मोहका कैसा विस्तार है? स्त्रीके गलेमें हाथ डाले रहनेसे मैंने अपनी आयुके इतने दिन और रातोंको जाते हुए नहीं जाना।

नाहं वेदाभिनिर्मुक्तः सूर्यो वाभ्युदितोऽमुया।
मुषितो वर्षपूगानां बताहानि गतान्युत॥ ८॥

इसके मोहमें पड़कर मैंने यह भी नहीं जाना कि कब तो सूर्य उदय हुआ और कब अस्त! और न इसीका पता चला कि इतने वर्षोंके दिन कैसे निकल गये।

अहो मे आत्मसंमोहो येनात्मा योषितां कृतः।
क्रीडामृगश्चक्रवर्ती नरदेवशिखामणिः॥ ९॥

ओह! मेरा कैसा भारी मोह है! जिसके कारण राजशिरोमणि और चक्रवर्ती होकर भी मैंने अपनेको स्त्रीका क्रीडामृग (पालतू पशु अथवा पक्षी) बना दिया।

सपरिच्छदमात्मानं हित्वा तृणमिवेश्वरम्।
यान्तीं स्त्रियं चान्वगमं नग्न उन्मत्तवद्रुदन्॥१०॥

१. पा०—'यदसौ'।

राजपाटके सहित मुझ अपने स्वामीको तिनकेके समान त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे मैं उन्मत्तके समान नंगा और रोता हुआ चल दिया !

कुतस्तस्यानुभावः स्यात्तेज ईशत्वमेव वा ।
योऽन्वगच्छत्स्त्रियं यान्तीं खरवत्पादताडितः ॥११॥

गधेकी तरह लात खाता हुआ भी जो पुरुष अपनेको त्यागकर जाती हुई स्त्रीके पीछे दौड़े, उसका प्रभाव, तेज और स्वामित्व कहाँ ठहर सकता है ?

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥१२॥

जिसका मन स्त्रियोंने चुरा लिया हो उसको विद्या, तप, दान, शास्त्राभ्यास, एकान्त-सेवन और मौन आदिसे क्या लाभ हो सकता है ?

स्वार्थस्याकोविदं धिङ् मां मूर्खं पण्डितमानिनम् ।
योऽहमीश्वरतां प्राप्य स्त्रीभिर्गोखरवज्जितः ॥१३॥

अपने भले-बुरेको न जाननेवाले, पाण्डित्याभिमानी मुझ मूर्खको धिक्कार है, जो राज-पद पाकर भी बैल और गधेके समान स्त्रियोंके वशीभूत हो गया ।

सेवतो वर्षपूगान् मे उर्वश्या अधरासवम् ।
न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा ॥१४॥

मैंने वर्षोंतक उर्वशीके अधर-रसका पान किया तथापि अग्नि जैसे आहुतियोंसे तृप्त नहीं होता वैसे ही मनसे उत्पन्न होनेवाली मेरी काम-वासना शान्त नहीं हुई ।

पुंश्चल्यापहृतं चित्तं कोऽन्वन्यो मोचितुं प्रभुः ।
आत्मारामेश्वरमृते भगवन्तमधोक्षजम् ॥१५॥

आत्माराम मुनियोंके प्रभु भगवान् अधोक्षजको छोड़कर कुलटा-कटाक्षोंद्वारा चुराये गये चित्तको छुड़ानेमें अन्य कौन समर्थ है ?

बोधितस्यापि देव्या मे सूक्तवाक्येन दुर्मतेः ।
मनोगतो महामोहो नापयात्यजितात्मनः ॥१६॥

उर्वशीने सत्य वचन कह-कहकर मुझे समझाया भी तथापि मुझ अजितेन्द्रिय और दुर्मतिके मनका महामोह दूर न हुआ ।

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः ।
रज्जुस्वरूपाविदुषो योऽहं यदजितेन्द्रियः ॥१७॥

अथवा रज्जुके स्वरूपको न जाननेवाले बल्कि उसे सर्प समझनेवाले पुरुषका जिस प्रकार रज्जु कोई अपकार नहीं करती उसी प्रकार यदि मैं इन्द्रियोंको नहीं जीत सका तो इसमें उसने मेरा क्या अपकार किया ? [यह तो सारा मेरा ही दोष है] ।

क्वायं मलीमसः कायो दौर्गन्ध्याद्यात्मकोऽशुचिः ।
क्व गुणाः सौमनस्याद्या ह्यध्यासोऽविद्यया कृतः ॥१८॥

कहाँ तो यह अति मलिन और दुर्गन्ध आदिसे पूर्ण स्त्रीका अपवित्र शरीर और कहाँ सुहृदयता-प्रेम आदि दिव्य गुण ? अविद्यासे ही इनका ऐसे शरीरमें अध्यास हो रहा है ।

पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः ।
किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते ॥१९॥

यह शरीर क्या माता-पिताका है अथवा स्त्री, स्वामी, अग्नि, कुत्ते और गृध्रोंमेंसे किसीका है ? क्या यह अपना है या बन्धुओंका— इस प्रकार इसके विषयमें यह कुछ निश्चय ही नहीं होता ।

तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते ।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च[1] मुखं स्त्रियः ॥२०॥

ऐसे अपवित्र और तुच्छ शरीरमें भी 'अहो, इस स्त्रीका मनोहर मुखारविन्द कैसी सुन्दर नासिका और मनोहर मुसकानसे युक्त है !' ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है ! [यह कैसा अद्भुत मोह है !]

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये[2] रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥२१॥

त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु (नस), मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूह इस देहमें आसक्त पुरुषों और अति अपवित्र मल-मूत्रमें सुख माननेवाले कीड़ोंमें भला कितना अन्तर है ?

अथापि नोपसज्जेत स्त्रीषु स्त्रैणेषु चार्थवित् ।
विषयेन्द्रियसंयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा ॥२२॥

इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाला विवेकी पुरुष, स्त्री और स्त्रीलम्पटोंका कभी साथ न करे, क्योंकि विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे ही मनमें विकार होता है, और किसी कारणसे नहीं ।

अदृष्टादश्रुताद्भावान्न भाव उपजायते ।
असंप्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः ॥२३॥

१. पा०—'सु' । २. पा०—'विण्मूत्रपूयैः' ।

जो विषय कभी देखे या सुने नहीं होते उनसे चित्तमें उनकी वासना भी नहीं उठती, इसीलिये इन्द्रियोंका विषयोंसे संयोग न होने देनेवाले पुरुषका चित्त शिथिल होकर शान्त और स्थिर हो जाता है।

तस्मात्सङ्गो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः।
विदुषां चाप्यविश्रब्धः षड्वर्गः किमु मादृशाम् ॥२४॥

अतएव इन्द्रियोंके द्वारा भी कभी स्त्री और स्त्री-लम्पटोंका सङ्ग न करना चाहिये। मनसहित इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका विश्वास तो विवेकी और बुद्धिसम्पन्न पुरुषोंको भी न करना चाहिये, फिर मुझ-जैसे कामान्ध और अज्ञानीकी तो बात ही क्या है?

श्रीभगवानुवाच

एवं प्रगायन्नरदेवदेवः
स उर्वशीलोकमथो विहाय।
आत्मानमात्मन्यवगम्य मां वै
उपारमज्ज्ञानविधूतमोहः ॥२५॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! इस प्रकार कहता हुआ वह राजाधिराज पुरूरवा उर्वशीलोकको छोड़कर चला आया और अपने अन्तःकरणमें आत्मारूपसे स्थित मुझ परमात्माको जानकर, तथा उस आत्मज्ञानसे मोहरहित होकर उपरत (शान्त) हो गया।

ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः ॥२६॥

इसलिये बुद्धिमान् पुरुष कुसंग छोड़कर सत् पुरुषोंमें अनुराग

बढ़ावे, इससे वे सन्तजन अपने सदुपदेशसे उसके मनकी विषयासक्तिको छिन्न-भिन्न कर देंगे।

सन्तोऽनपेक्षा मच्चित्ताः प्रशान्ताः समदर्शिनः।
निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ॥२७॥

सन्तजन सदा निष्काम, मुझमें ही चित्त लगानेवाले, अत्यन्त शान्त, समदर्शी, ममताशून्य, अहंकार-रहित, द्वन्द्वहीन और अकिञ्चन होते हैं।

तेषु नित्यं महाभाग महाभागेषु मत्कथाः।
संभवन्ति हिता नृणां जुषतां प्रपुनन्त्यघम् ॥२८॥

हे महाभाग उद्धवजी! उन परम सौभाग्यवान् सन्तजनोंमें परस्पर नित्य मेरी कथा-वार्ता हुआ करती हैं, जो अपना श्रवण और ग्रहण करनेवाले मनुष्योंके सम्पूर्ण पापोंको नष्ट कर देती हैं।

ता ये शृण्वन्ति गायन्ति ह्यनुमोदन्ति चादृताः।
मत्पराः श्रद्दधानाश्च भक्तिं विन्दन्ति ते मयि[1] ॥२९॥

जो लोग मुझमें चित्त लगाकर श्रद्धा और आदरसहित उन कथाओंको सुनते, कहते और अनुमोदन करते हैं उनकी मुझमें अनन्यभक्ति हो जाती है।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते।
मय्यनन्तगुणे ब्रह्मण्यानन्दानुभवात्मनि ॥३०॥

मुझ अनन्त-गुण-सम्पन्न चिदानन्दस्वरूप परब्रह्ममें भक्ति हो जानेपर फिर उस साधु पुरुषको और क्या प्राप्तव्य रह जाता है?

१. पा०—'पराम्'।

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम् ।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा ॥३१॥

जिस प्रकार भगवान् अग्निदेवका आश्रय लेनेवाले पुरुषके शीत, भय और अन्धकार तीनोंकी निवृत्ति हो जाती है उसी प्रकार साधु पुरुषोंका सेवन करनेसे पाप, संसारभय और अज्ञानादि कोई नहीं रहते ।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम् ॥३२॥

इस भयंकर संसार-सागरमें गोते खानेवाले पुरुषोंके लिये, जलमें डूबते हुओंके लिये नौकाके समान ब्रह्मवेत्ता और शान्तचित्त साधुजन ही परम अवलम्ब हैं ।

अन्नं हि प्राणिनां प्राणा आर्तानां शरणं त्वहम् ।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्बिभ्यतोऽरणम् ॥३३॥

जैसे अन्न ही देहधारियोंका जीवन है, उसी प्रकार मैं ही दीन-दुखियोंका सहारा हूँ, तथा परलोकमें जैसे धर्म ही मनुष्यका धन होता है उसी प्रकार संसार-तापसे भयभीत पुरुषोंके लिये सन्तजन ही परम आश्रय होते हैं ।

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः ।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च ॥३४॥

आकाशमण्डलमें उदय हुआ सूर्य मनुष्यको केवल बाह्य नेत्र ही देता है, किन्तु सन्तजन उसे ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र देते हैं । अतः सन्तजन देवता और बन्धुरूप हैं तथा वे सबके आत्मा और साक्षात् मेरा स्वरूप ही हैं ।

वैतसेनस्ततोऽप्येवमुर्वश्यालोकनिस्पृहः ।
मुक्तसङ्गो महीमेतामात्मारामश्चचार ह ॥३५॥

हे उद्धव ! इस प्रकार उसी क्षणसे उर्वशीके देखनेकी इच्छा छोड़कर राजा पुरूरवा अनासक्त और आत्माराम होकर इस पृथिवीतलपर विचरने लगा।



इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥



सत्ताईसवाँ अध्याय

क्रियायोगका वर्णन

उद्धव उवाच

क्रियायोगं समाचक्ष्व भवदाराधनं प्रभो ।
यस्मात्त्वां ये यथार्चन्ति सात्वताः सात्वतर्षभ ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे सात्वतश्रेष्ठ प्रभो ! आपके भक्तजन आपके जिस विग्रहमें आपकी जिस प्रकार उपासना करते हैं वह आपका आराधनरूप क्रियायोग आप मुझसे कहिये ।

एतद्वदन्ति मुनयो मुहुर्निःश्रेयसं नृणाम् ।
नारदो भगवान्व्यास आचार्योऽङ्गिरसः सुतः ॥ २ ॥

नारद, भगवान् व्यासदेव तथा आचार्य बृहस्पति आदि मुनिगण आपके इस क्रियायोगको ही वारम्बार मनुष्योंके परम कल्याणका साधन बतलाते हैं ।

निःसृतं ते मुखाम्भोजाद्यदाह भगवानजः ।
पुत्रेभ्यो भृगुमुख्येभ्यो देव्यै च भगवान्भवः ॥ ३ ॥

आपके मुखारविन्दसे ही निकले हुए इस क्रियायोगको पहले ब्रह्माजीने अपने पुत्र भृगु आदिको और भगवान् शंकरने पार्वतीजीको सुनाया था ।

एतद्वै सर्ववर्णानामाश्रमाणां च संमतम् ।
श्रेयसामुत्तमं मन्ये स्त्रीशूद्राणां च मानद ॥ ४ ॥

हे मानद ! यह क्रियायोग समस्त वर्ण और आश्रमोंको अभिमत है तथा मैं इसे स्त्री और शूद्रादिके लिये भी परम कल्याणकारी समझता हूँ ।

एतत्कमलपत्राक्ष कर्मबन्धविमोचनम् ।
भक्ताय चानुरक्ताय ब्रूहि विश्वेश्वरेश्वर ॥ ५ ॥

हे कमलदललोचन ! हे जगदीश्वरोंके भी ईश्वर ! इस कर्मबन्धनके छुड़ानेवाले परम धर्मका आप अपने अनुरक्त भक्त मुझसे वर्णन कीजिये ।

श्रीभगवानुवाच

न ह्यन्तोऽनन्तपारस्य कर्मकाण्डस्य चोद्धव ।
संक्षिप्तं वर्णयिष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ६ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! इस अनन्तपार कर्मकाण्डका कोई अन्त नहीं है; अतः पूर्वापरक्रमसे मैं संक्षेपमें ही उसका वर्णन करता हूँ ।

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥

मेरी पूजाकी वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र तीन विधियाँ हैं, इन तीनोंमेंसे जो भी इष्ट हो उसीसे मेरी उपासना करे ।

यदा स्वनिगमेनोक्तं द्विजत्वं प्राप्य पूरुषः ।
यथा यजेत मां भक्त्या श्रद्धया तन्निबोध मे ॥ ८ ॥

शास्त्रोक्त विधिसे यथासमय यज्ञोपवीतसंस्कारद्वारा द्विजत्व प्राप्त करके पुरुषको जिस प्रकार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करनी चाहिये वह तुम मुझसे सुनो ।

अर्चायां स्थण्डिलेऽग्नौ वा सूर्ये वाप्सु[१] हृदि द्विजे ।
द्रव्येण भक्तियुक्तोऽर्चेत्स्वगुरुं माममायया ॥ ९ ॥

उपासकको उचित है कि निष्कपट भावसे प्रतिमा, चबूतरा, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय और ब्राह्मणमें भक्तिपूर्वक यथोचित सामग्रीसे गुरुरूप मेरी पूजा करे ।

पूर्वं स्नानं प्रकुर्वीत धौतदन्तोऽङ्गशुद्धये ।
उभयैरपि च स्नानं मन्त्रैर्मृद्ग्रहणादिना ॥ १० ॥

प्रथम दन्तधावन करके शरीर-शुद्धिके लिये वैदिक अथवा तान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करता हुआ मृत्तिकादि लगाकर स्नान करे ।

संध्योपास्त्यादिकर्माणि वेदेनाचोदितानि[३] मे ।
पूजां तैः कल्पयेत्सम्यक्संकल्पः कर्मपावनीम् ॥ ११ ॥

१. पा०—'एतत्' । २. पा०—'सूर्येऽप्सु हृदि वा द्विजः' ।
३. पा०—'वेदमन्त्रोदितानि' ।

सन्ध्योपासनादि कर्मोंका वेदने विधान किया है; अतः सत्य-संकल्प पुरुषको चाहिये कि उनके द्वारा कर्मबन्धनको काटनेवाली मेरी पूजा करे ।

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता ॥१२॥

मेरी प्रतिमा आठ प्रकारकी बतलायी गयी है—पत्थरकी, काष्ठकी, धातुकी, चन्दनादि लेपकी, चित्रित की हुई, बालुकामयी, मनोमयी तथा मणिमयी ।

चलाचलेति द्विविधा प्रतिष्ठा जीवमन्दिरम् ।
उद्वासावाहने न स्तः स्थिरायामुद्धवार्चने ॥१३॥
अस्थिरायां विकल्पः स्यात्स्थण्डिले तु भवेद्द्वयम् ।
स्नपनं त्वविलेप्यायामन्यत्र परिमार्जनम् ॥१४॥

विधिवत् प्राण-प्रतिष्ठा की हुई भगवान्‌की निवासस्थानरूप प्रतिमा चल और अचल दो प्रकारकी होती है । हे उद्धव ! स्थिर प्रतिमाके पूजनमें आवाहन अथवा विसर्जन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, अस्थिर प्रतिमामें चाहे करे चाहे न करे, परन्तु बालुकामयी प्रतिमामें आवाहन तथा विसर्जन दोनोंका करना आवश्यक है । लेपमयी और चित्रित प्रतिमाओंका केवल मार्जन करे, परन्तु और सबको स्नान करावे ।

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥१५॥

भक्तको चाहिये कि जो सामग्री मिल जाय उसीसे निष्कपट

होकर श्रद्धासहित मेरी प्रतिमाकी पूजा करे, अथवा अपने हृदयमें ही मनोमयी सामग्रीसे मानसिक उपासना करे ।

स्नानालङ्करणं प्रेष्ठमर्चायामेव तूद्धव[1] ।
स्थण्डिले तत्त्वविन्यासो वह्नावाज्यप्लुतं हविः ॥१६॥

हे उद्धव ! स्नान और वस्त्रालङ्कार तो [धातु अथवा पाषाण आदिकी] प्रतिमाके पूजनमें ही उपयोगी है, बालुकामयीमें मन्त्रोंद्वारा देवताकी प्रतिष्ठा करनी चाहिये और अग्निमें घृत-मिश्रित शाकल्यादिसे उपासना करनी चाहिये ।

सूर्ये चाभ्यर्हणं प्रेष्ठं सलिले सलिलादिभिः ।
श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि ॥१७॥

सूर्यकी उपासनामें अर्घ्यदान करना उत्तम है तथा जलमें तर्पणादिसे मेरी उपासना करनी चाहिये । मेरे भक्तद्वारा श्रद्धापूर्वक दिया हुआ तो जल भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ।

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते[2] ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः ॥१८॥

भक्तहीन पुरुषके द्वारा समर्पित तो बहुमूल्य सामग्री भी मुझे सन्तुष्ट नहीं कर सकती, फिर चन्दन, धूप, दीप, पुष्प और नैवेद्यादिकी तो बात ही क्या है ?

शुचिः संभृतसंभारः प्राग्दर्भैः कल्पितासनः ।
आसीनः प्रागुदग्वार्चेदर्चायामथ संमुखः ॥१९॥

१. पा०—'अर्चायामेतदुद्धव' । २. पा०—'यह श्लोकार्ध प्राचीन प्रतिमें नहीं है' ।

स्नानादिसे पवित्र होकर पूर्वको ओर अग्रभाग करके बिछाये हुए कुशासनपर पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा यदि स्थिर प्रतिमा हो तो उसके सम्मुख बैठकर पूजन करे ।

कृतन्यासः कृतन्यासां मदर्चां पाणिना मृजेत् ।
कलशं प्रोक्षणीयं च यथावदुपसाधयेत् ॥२०॥

फिर विधिवत् करन्यास और अङ्गन्यास करके प्रतिमामें मन्त्रन्यास करे और हाथसे प्रतिमाका निर्माल्य (पूर्वसमर्पित सामग्री) हटाकर उसका मार्जन करे, तथा कलश और प्रोक्षणी-पात्रका यथावत् संस्कार करे ।

तदद्भिर्देवयजनं द्रव्याण्यात्मानमेव च ।
प्रोक्ष्य पात्राणि त्रीण्यद्भिस्तैस्तैर्द्रव्यैश्च साधयेत् ॥२१॥
पाद्यार्घ्याचमनीयार्थं त्रीणि पात्राणि दैशिकः ।
हृदा शीर्ष्णाथ शिखया गायत्र्या चाभिमन्त्रयेत् ॥२२॥

तदनन्तर उपासकको चाहिये कि उस जलसे पूजा-स्थान, सामग्री और अपने शरीरका प्रोक्षण करे तथा पाद्य, अर्घ्य और आचमनके लिये तीन पात्रोंमें जल भरकर उनमें यथायोग्य शास्त्र-विहित सामग्री डाले; [अर्थात् पाद्यपात्रमें श्यामाक, दूब और विष्णुकान्ता आदि; अर्घ्यपात्रमें गन्ध, पुष्प, अक्षत, यव, कुश, तिल, सरसों और दूब ये आठ चीजें तथा आचमनपात्रमें जायफल, लवंग आदि डाले] और फिर उन्हें क्रमशः हृन्मन्त्र, शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे मन्त्रित कर अन्तमें केवल गायत्रीमन्त्रसे अभिमन्त्रित करे ।

पिण्डे वाय्वग्निसंशुद्धे हृत्पद्मस्थां परां मम ।
अण्वीं जीवकलां ध्यायेन्नादान्ते सिद्धभाविताम् ॥२३॥

फिर प्राणवायु और जठराग्निसे शुद्ध हुए शरीरके भीतर हृदयकमलमें स्थित मेरी जिस परम सूक्ष्म और श्रेष्ठ जीवकलाकी सिद्धगण नादके अन्तमें भावना करते हैं उसका ध्यान करे ।

तयात्मभूतया पिण्डे व्याप्ते संपूज्य तन्मयः ।
आवाह्यार्चादिषु स्थाप्य न्यस्ताङ्गं मां प्रपूजयेत् ॥२४॥

उस आत्मभूत जीवकलाके पिण्डमें व्याप्त होनेपर उसकी पूजा करे । फिर तन्मय भावसे आवाहन करके मुझे प्रतिमादिमें स्थापित करे और मन्त्रोंद्वारा मेरा अङ्गन्यास करके उसमें मेरा पूजन करे ।

पाद्योपस्पर्शार्हणादीनुपचारान्प्रकल्पयेत् ।
धर्मादिभिश्च नवभिः कल्पयित्वासनं मम ॥२५॥
पद्ममष्टदलं तत्र कर्णिकाकेसरोज्ज्वलम् ।
उभाभ्यां वेदतन्त्राभ्यां मह्यं तूभयसिद्धये ॥२६॥

धर्म आदि नव-शक्तियोंसे युक्त मेरे आसनकी कल्पना करे

---

१. ओंकारकी पाँच कलाएँ हैं—अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद । इसके पश्चात् परात्पर ब्रह्म है ।

२. इस आसनरूप पर्यङ्कके अग्निकोण आदि कोणोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार पाद हैं । अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य—ये पूर्वादि दिशाओंमें गात्र (डंडे) हैं तथा त्रिगुण पृष्ठभाग है । इनमें विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये नौ शक्तियाँ हैं ।

और उसमें अति उज्ज्वल कर्णिका और केसर-युक्त अष्टदल कमलकी भावना करे तथा पाद्य, आचमनीय और अर्घ्य आदि प्रस्तुत कर भोग और मोक्षकी सिद्धिके लिये वैदिक तथा तान्त्रिक विधिसे मेरा पूजन करे ।

सुदर्शनं पाञ्चजन्यं गदासीषुधनुर्हलान् ।
मुसलं कौस्तुभं मालां श्रीवत्सं चानुपूजयेत् ॥२७॥

फिर सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्यशंख, गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल, कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्स-चिह्नकी यथास्थान स्थापना करके उनकी पूजा करे ।

नन्दं सुनन्दं गरुडं प्रचण्डं चण्डमेव च ।
महाबलं बलं चैव कुमुदं कुमुदेक्षणम् ॥२८॥
दुर्गां विनायकं व्यासं विष्वक्सेनं गुरून्सुरान् ।
स्वे स्वे स्थाने त्वभिमुखान्पूजयेत्प्रोक्षणादिभिः ॥२९॥

तदनन्तर नन्द, सुनन्द, गरुड, चण्ड, प्रचण्ड, बल, महाबल, कुमुद, कुमुदेक्षण, दुर्गा, विनायक, व्यास, विष्वक्सेन, गुरुगण तथा देवगणको अपने-अपने स्थानमें स्थापित करके उनका प्रोक्षण आदिसे पूजन करे ।

चन्दनोशीरकर्पूरकुङ्कुमागुरुवासितैः ।
सलिलैः स्नापयेन्मन्त्रैर्नित्यदा विभवे सति ॥३०॥
स्वर्णघर्मानुवाकेन महापुरुषविद्यया ।
पौरुषेणापि सूक्तेन सामभी राजनादिभिः ॥३१॥

यदि सामर्थ्य हो तो नित्यप्रति चन्दन, उशीर (खस),

कर्पूर, कुङ्कुम और अगरुसे, सुगन्धित जलसे स्वर्णघर्मानुवाक, महापुरुषविद्या, पुरुषसूक्त तथा सामवेदोक्त राजनादि मन्त्रोंका पाठ करता हुआ मुझको स्नान करावे।

वस्त्रोपवीताभरणपत्रस्रग्गन्धलेपनैः ।
अलङ्कुर्वीत सप्रेम मद्भक्तो मां यथोचितम् ॥३२॥

वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, पत्र, माला, गन्ध और चन्दनादिसे मेरा भक्त यथोचित रीतिसे मेरा शृंगार करे।

पाद्यमाचमनीयं च गन्धं सुमनसोऽक्षतान् ।
धूपदीपोपहार्याणि दद्यान्मे श्रद्धयार्चकः ॥३३॥

उपासकको उचित है कि श्रद्धापूर्वक पाद्य, आचमन, गन्ध, पुष्प, अक्षत, धूप और दीप आदि मुझको निवेदन करे।

गुडपायससर्पींषि शष्कुल्यापूपमोदकान् ।
संयावदधिसूपांश्च नैवेद्यं सति कल्पयेत् ॥३४॥

और सामर्थ्य हो तो गुड, खीर, घृत, पूरी, पूए, लड्डू, लपसी, दही और दाल आदि विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य (भोग) समर्पण करे।

अभ्यङ्गोन्मर्दनादर्शदन्तधावाभिषेचनम् ।
अन्नाद्यगीतनृत्यादि पर्वणि स्युरुतान्वहम्* ॥३५॥

शक्ति हो तो नित्यप्रति, नहीं तो पर्व-दिनोंपर सुगन्धित तैल, उबटन, दर्पण, दन्तधावन, अभिषेक, भाँति-भाँतिके भोज्य एवं भक्ष्यपदार्थ तथा नृत्य, वाद्य और गान आदिसे मेरा उत्सव मनावे।

* पा०—'अन्नादि गीतनृत्यादि मत्पर्वणि यथार्हतः'।

विधिना विहिते कुण्डे मेखलागर्तवेदिभिः ।
अग्निमाधाय परितः समूहेत्पाणिनोदितम् ॥३६॥

विधि-विहित मेखला, गर्त और वेदीसे युक्त अग्निकुण्डमें अग्नि स्थापित करे और अपने हाथकी हवासे उसे प्रज्वलित करके एकत्रित करे।

परिस्तीर्याथ पर्युक्षेदन्वाधाय यथाविधि ।
प्रोक्षण्यासाद्य द्रव्याणि प्रोक्ष्याग्नौ भावयेत माम्*॥३७॥

फिर वेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर उनका प्रोक्षण करे तथा विधिपूर्वक [समिधाओंका न्यासरूप] अन्वाधान कर्म कर [अग्निके उत्तरीय भागमें] होमोपयोगी सामग्री रख उसका प्रोक्षणीपात्रसे प्रोक्षण करे और अग्निमें मेरा [इस प्रकार] ध्यान करे।

तप्तजाम्बूनदप्रख्यं शंखचक्रगदाम्बुजैः ।
लसच्चतुर्भुजं शान्तं पद्मकिञ्जल्कवाससम् ॥३८॥
स्फुरत्किरीटकटक[1]कटिसूत्रवराङ्गदम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥३९॥
ध्यायन्नभ्यर्च्य दारूणि हविषाभिघृ[2]तानि च ।
प्रास्याज्यभागावाघारौ दत्त्वा चाज्यप्लु[3]तं हविः ॥४०॥

जो तप्त सुवर्णके समान तेजोमय है, जिसके चारों करकमलोंमें शंख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं, जो शान्त है तथा कमल-केसरके समान जिसके पीत वस्त्र हैं,

* पा०—'प्रोक्ष्याद्भिराज्यद्रव्याणि प्रोक्षाग्नावावहेत माम्'। १. पा०—'०मुकुट०'। २. पा०—'हविष्याणि घृतानि च'। ३. पा०—'आज्याप्लुतम्'।

जिसके दिव्य अङ्गोंमें यथास्थान किरीट, कङ्कण, करधनी और भुजबन्ध झिलमिला रहे हैं तथा वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, कौस्तुभ-मणि और वनमालाकी अति विचित्र शोभा है, ऐसे मेरे रूपका ध्यान और पूजा कर घृतमें भीगी हुई समिधाओंकी आहुति दे और फिर आघार और आज्यभाग नामकी दो[1] घृताहुति देकर घृतसे भीगे हुए शाकल्यकी आहुतियाँ दे।

जुहुयान्मूलमन्त्रेण षोडशर्चावदानतः।
धर्मादिभ्यो यथान्यायं मन्त्रैः स्विष्टकृतं बुधः ॥४१॥

तदनन्तर मूलमन्त्रसे[2] तथा पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंमेंसे प्रत्येकके द्वारा आहुति छोड़ता हुआ बुद्धिमान् उपासक धर्मादि देवताओंके लिये मन्त्रोंद्वारा विधिपूर्वक स्विष्टकृत् हवन करे।

अभ्यर्च्याथ नमस्कृत्य पार्षदेभ्यो बलिं हरेत्।
मूलमन्त्रं जपेद्ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम् ॥४२॥

इस प्रकार पूजा और नमस्कार करके [नन्द-सुनन्दादि] पार्षदोंको बलि प्रदान करे और भगवान्का स्मरण करता हुआ भगवत्स्वरूप मूलमन्त्रका जप करे।

दत्त्वाचमनमुच्छेषं विष्वक्सेनाय कल्पयेत्।
मुखवासं सुरभिमत्ताम्बूलाद्यमथार्हयेत् ॥४३॥

---

१. 'प्रजापतये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा' ये आघाराहुतियाँ हैं, तथा 'अग्नये स्वाहा, सोमाय स्वाहा' ये आज्यभागाहुतियाँ हैं।

२. 'ॐ नमो नारायणाय' यह आठ अक्षरोंका मन्त्र मूलमन्त्र कहलाता है। अथवा आराधनाके पक्षमें पुरुषसूक्त ही मूलमन्त्र है।

फिर भगवान्‌को आचमन कराकर उनका प्रसाद विष्वक्सेनको निवेदन करे तथा सुगन्धित ताम्बूल और मुखवास अर्पणकर अन्तमें आदरपूर्वक भगवत्प्रसाद ग्रहण करे ।

उपगायन् गृणन्नृत्यन्कर्माण्यभिनयन्मम ।
मत्कथाः श्रावयञ्शृण्वन्मुहूर्तं क्षणिको भवेत् ॥४४॥

मेरे कर्मोंका गान, कथन और अभिनय करता हुआ, प्रेमोन्मत्त होकर नाचता हुआ, मेरी कथाओंको सुनता और सुनाता हुआ एक मुहूर्तके लिये अवकाश ग्रहण करे ।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥४५॥

पुराणोंके अथवा सर्वसाधारणमें प्रचलित नाना प्रकारके छोटे-बड़े स्तोत्रोंसे मेरी स्तुति करके कहे कि 'हे प्रभो, प्रसन्न होइये' और फिर साष्टांग दण्डवत् करके मेरी वन्दना करे ।

शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥४६॥

अपना शिर मेरे चरणोंमें रक्खे और अपने दोनों हाथोंसे—सीधे-से-सीधा और बायें-से-बायाँ—मेरे दोनों चरण पकड़कर कहे कि 'हे प्रभो ! मैं शरणागत हूँ, इस संसार-सागरमें मृत्युरूप ग्राहने मुझे पकड़ रक्खा है, आप मेरी रक्षा कीजिये ।'

इति शेषां मया दत्तां शिरस्याधाय सादरम् ।
उद्वासयेच्चेदुद्वास्यं ज्योतिर्ज्योतिषि तत्पुनः ॥४७॥

इस प्रकार स्तुतिकर मुझे समर्पण की हुई मालाको प्रसाद-

रूपसे आदरपूर्वक अपने मस्तकपर रक्खे और यदि विसर्जन करना हो तो प्रतिमामें स्थापित ज्योतिको हृदयस्थ ज्योतिमें लीन करनारूप विसर्जन करे ।

अर्चादिषु यदा यत्र श्रद्धा मां तत्र चार्चयेत् ।
सर्वभूतेष्वात्मनि च सर्वात्माहमवस्थितः ॥४८॥

प्रतिमादिमें जिस समय और जहाँ उपासककी श्रद्धा हो तब और उसीमें मेरी उपासना करे, क्योंकि मैं सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने स्वरूपमें सर्वात्मभावसे विराजमान हूँ ।

एवं क्रियायोगपथैः पुमान्वैदिकतान्त्रिकैः ।
अर्चन्नुभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम् ॥४९॥

इस प्रकार वैदिक और तान्त्रिक क्रियायोगकी विधिसे उपासक मेरा पूजन करके लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकारकी अभीष्ट सिद्धियाँ मेरेद्वारा पाता है ।

मदर्चां संप्रतिष्ठाप्य मन्दिरं कारयेद् दृढम् ।
पुष्पोद्यानानि रम्याणि पूजायात्रोत्सवाश्रितान् ॥५०॥

उपासकको उचित है कि यदि शक्ति हो तो मेरी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करके सुदृढ़ देवालय बनवावे और उसकी पूजा तथा उत्सवादिके लिये सुन्दर पुष्पोद्यान लगवा दे ।

पूजादीनां प्रवाहार्थं महापर्वस्वथान्वहम् ।
क्षेत्रापणपुरग्रामान् दत्त्वा मत्सार्ष्टितामियात् ॥५१॥

पर्व-दिनोंपर अथवा नित्यप्रति पूजा और उत्सव आदि चालू रहनेके लिये क्षेत्र, हाट (दूकान), पुर अथवा ग्रामके देनेसे दाताको मेरे समान ऐश्वर्य मिलता है ।

प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम् ।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यतामियात् ॥५२॥

प्रतिमा-प्रतिष्ठा करनेसे सार्वभौम राज्य, देवालय बनवानेसे त्रिलोकीका आधिपत्य (इन्द्रपद), पूजादि करनेसे ब्रह्मलोक और तीनों कर्म करनेसे मेरी समानताकी प्राप्ति होती है ।

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन[1] विन्दति ।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ॥५३॥

निष्काम भक्तियोगसे मेरी ही प्राप्ति होती है और जो कोई उपर्युक्त विधिसे मेरी पूजा करता है उसे मेरा भक्ति-योग प्राप्त होता है ।

यः स्वदत्तां परैर्दत्तां हरेत सुरविप्रयोः ।
वृत्तिं स जायते विड्भुग्वर्षाणामयुतायुतम् ॥५४॥

जो कोई अपनी दी हुई अथवा किसी औरकी दी हुई ब्राह्मण या देवताकी वृत्तिको हर लेता है वह लाख वर्षतक विष्ठाका कीड़ा होता है ।

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च ।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत्फलम् ॥५५॥

मरनेके अनन्तर कर्मका करनेवाला, सहायक, प्रेरक और अनुमोदक—चारों समान फलके भागी होते हैं और अधिक कर्मका फल भी अधिक ही होता है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

१. पा०—'क्रियायोगेन' ।

ॐ

अट्ठाईसवाँ अध्याय

परमार्थ-निरूपण

श्रीभगवानुवाच

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव ! विचारवान् पुरुषको चाहिये कि प्रकृति और पुरुषरूप विश्वको एकात्मक देखता हुआ किसीके स्वभाव अथवा कर्मको न तो प्रशंसा ही करे और न निन्दा ही।

परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः ॥ २ ॥

जो कोई दूसरोंके स्वभाव या कर्मोंकी स्तुति या निन्दा करता है वह असत् [द्वैत-प्रपञ्च] में अभिनिवेश (सत्यत्व-बुद्धि) हो जानेसे शीघ्र ही परमार्थ-साधनसे पतित हो जाता है।

तैजसे निद्रयापन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः।
मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक्पुमान् ॥ ३ ॥

राजस अहंकारके कार्यरूप इन्द्रियोंके निद्राग्रस्त होनेपर शरीरस्थ जीव चेतनाशून्य होकर स्वप्नरूप माया अथवा सुषुप्ति-

१. पा०—'आप्नोति'।

रूप मृत्युको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार भेददर्शी पुरुष विक्षेप या लयको प्राप्त होकर स्वार्थ-साधनसे भ्रष्ट हो जाता है।

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४ ॥

इस असत् द्वैतमें शुभ अथवा अशुभ क्या है? और कितना है? जो कुछ वाणीसे कहा जाता अथवा मनसे चिन्तन किया जाता है वह सभी तो मिथ्या है।

छायाप्रत्याह्वयाभासा ह्यसन्तोऽप्यर्थकारिणः।
एवं देहादयो भावा यच्छन्त्या मृत्युतो भयम् ॥ ५ ॥

छाया, प्रतिध्वनि और आभास असत् होकर भी [सत्यवत् भासनेसे] जैसे कार्यकारी होते हैं, उसी प्रकार देह आदि उपाधियाँ भी मृत्युपर्यन्त नाना प्रकारसे भय देती रहती हैं।

आत्मैव तदिदं विश्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः ॥ ६ ॥

वह आत्मा ही यह विश्व है। वह प्रभु आत्मा ही [विश्वरूपसे] बनता और [स्रष्टारूपसे] बनाता है, वह विश्वात्मा ही रक्षित होता और रक्षा करता है तथा वह ईश्वर ही लीन होता और लीन करता है।

तस्मान्न ह्यात्मनोऽन्यस्मादन्यो भावो निरूपितः।
निरूपितेयं त्रिविधा निर्मूला भातिरात्मनि[1]।
इदं गुणमयं विद्धि त्रिविधं मायया कृतम् ॥ ७ ॥

१. पा०—'मतिः'।

इसलिये आत्मासे भिन्न प्रतीत होनेवाले सारे भाव आत्मासे भिन्न किसी अन्य पदार्थद्वारा निरूपित नहीं हैं। आत्मामें यह [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक] तीन प्रकारकी प्रतीति अकारण ही है। इस त्रिविध प्रतीतिको मायाकृत और गुणमयी ही समझो।

एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्।
न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥

इस प्रकार मेरी कही हुई ज्ञान-विज्ञानकी प्रवीणताको जानकर पुरुष लोकमें न किसीकी स्तुति करता है और न निन्दा। वह तो सूर्यके समान निर्लिप्त रहकर समानभावसे सर्वत्र विचरता रहता है।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा।
आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥ ९॥

इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और अपने अनुभवसे इन अनात्म-पदार्थोंको आदि-अन्त-युक्त और असत् जानकर संसारमें असङ्ग होकर विचरे।

उद्धव उवाच

नैवात्मनो न देहस्य संसृतिर्द्रष्टृदृश्ययोः।
अनात्मस्वदृशोरीश कस्य स्यादुपलभ्यते॥ १०॥

उद्धवजी बोले—हे प्रभो! यह प्रतीत होता हुआ प्रपञ्च न तो साक्षी आत्मामें है और न दृश्य देहमें ही; क्योंकि आत्मा स्वयंप्रकाश है और देह जड है। तो फिर इसकी उपलब्धि किसको होती है?

आत्माऽव्ययोऽगुणः शुद्धः स्वयंज्योतिरनावृतः।
अग्निवद्दारुवदचिद्देहः कस्येह संसृतिः* ॥११॥

आत्मा तो अग्निके समान अव्यय, निर्गुण, शुद्ध, स्वयं-प्रकाश और अनावृत है तथा देह काष्ठवत् जड है; फिर यह संसार किसमें है? [सो आप कहिये।]

श्रीभगवानुवाच

यावद्देहेन्द्रियप्राणैरात्मनः सन्निकर्षणम्।
संसारः[1] फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः ॥१२॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! संसार सर्वथा असत् है, तथापि जबतक अविवेकी पुरुषका शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मनसे सम्बन्ध रहता है तबतक उसको यह सुख-दुःखरूप फलका देनेवाला होता है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते।
ध्यायतो विषयानस्य[2] स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥१३॥

स्वप्नमें प्राप्त हुए अनर्थके समान अत्यन्त असत् होते हुए भी, जो पुरुष इसके विषयोंका चिन्तन करता रहता है उससे यह संसार निवृत्त नहीं होता।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥१४॥

सोये हुए मनुष्यको जैसे स्वप्नावस्था बहुत-से अनर्थोंकी प्राप्ति

*. पा०—'अग्निवद्दारुवद्देहः कस्य ह्य कस्य संसृतिः'।
१. पा०—'संसारफलवान्'। २. पा०—विषयांस्तस्य'।

करानेवाली होती है किन्तु जाग पड़नेपर फिर उसे उस (स्वप्नावस्था) से कोई मोह नहीं होता [उसी प्रकार अज्ञानावस्थामें मनुष्यको देहादि असत् पदार्थोंसे भय लगा रहता है, ज्ञानोदय हो जानेपर उसे कोई भय नहीं रहता।]

शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च[1] नात्मनः ॥१५॥

हर्ष, शोक, भय, क्रोध, लोभ, मोह और स्पृहा (इच्छा) आदि तथा जन्म और मृत्यु—ये सब अज्ञानजनित अहङ्कारमें ही होते हैं, शुद्ध आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

देहेन्द्रियप्राणमनोऽभिमानो
जीवोऽन्तरात्मा गुणकर्ममूर्तिः।
सूत्रं महानित्युरुधेव गीतः
संसार आधावति कालतन्त्रः ॥१६॥

देह, इन्द्रिय, प्राण और मन आदिका अभिमानी अन्तःकरण ही जीव है, वह गुण और कर्ममयी मूर्तिवाला है। उसीको सूत्र अथवा महान् आदि अनेक नामोंसे वर्णन किया गया है, वही कालाधीन होकर संसारमें ऊँच-नीच योनियोंमें जाता-आता है।

अमूलमेतद्बहुरूपरूपितं
मनोवचःप्राणशरीरकर्म।
ज्ञानासिनोपासनया शितेन
छित्त्वा मुनिर्गां विचरत्यतृष्णः ॥१७॥

---

१. पा०—'मृत्युर्न वात्मनः'।

अनेक रूपसे प्रतीत होनेवाले किन्तु निर्मूल मन, वाणी, प्राण, शरीर और कर्म आदिको उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किये हुए ज्ञान-खड्गसे काटकर मुनि तृष्णाहीन होकर पृथ्वीपर विचरता है।

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम्।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥१८॥

'इस संसारके आदि और अन्तमें जो तत्त्व है वही मध्यमें भी इसके प्रकाशक और उपादान कारणरूपसे स्थित है'—इस प्रकारका विवेक ही ज्ञान है; तथा इसके निश्चयके तप, शास्त्र, एवं प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमानादि प्रमाण साधन हैं।

यथा हिरण्यं स्वकृतं पुरस्ता-
त्पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य।
तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं
नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥१९॥

जिस प्रकार सोनेकी वस्तुओंके बननेसे पूर्व और पश्चात् सोना अपने [बिना गढ़े हुए] स्वरूपमें रहता है तथा वही मध्यमें भी विविध नामोंसे व्यवहार किया जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस दृश्यमान संसारका कारण होनेसे इसके आदि, अन्त और मध्यमें स्थित हूँ।

विज्ञानमेतत्त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ।

समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥२०॥

हे प्रिय ! जिस तुरीयके अन्वय-व्यतिरेकसे [जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिरूप] तीन अवस्थाओंवाला मन, [सत्त्व, रज, तम] तीनों गुण और कारण, कार्य तथा कर्ता—ये सभी सिद्ध होते हैं वही सत्यस्वरूप ब्रह्म है ।

न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चा-
न्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्य-
त्तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा ॥२१॥

जो न तो उत्पत्तिसे पूर्व ही था और न लयके पश्चात् ही रहेगा । वह बीचमें भी कथनमात्रको ही है, क्योंकि जो पदार्थ किसी अन्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं वे वही (अपने उत्पादक और प्रकाशकरूप ही) होते हैं—ऐसी मेरी धारणा है ।

अविद्यमानोऽप्यवभासते यो
वैकारिको राजससर्ग एष[१] ।
ब्रह्म स्वयंज्योतिरतो विभाति
ब्रह्मेन्द्रियार्थात्मविकारचित्रम् ॥२२॥

यह जो विकारसमुदायरूप राजस सर्ग विद्यमान न होनेपर भी भासता है वह स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है; अतः इन्द्रिय, विषय, मन और पञ्चभूतादि विचित्र रूपोंमें ब्रह्म ही भास रहा है ।

१. पा०—'एव' ।

एवं स्फुटं ब्रह्मविवेकहेतुभिः
परापवादेन विशारदेन ।
छित्त्वात्मसंदेहमुपारमेत
स्वानन्दतुष्टोऽखिलकामुकेभ्यः ॥२३॥

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानके हेतुस्वरूप प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा अनात्म-पदार्थोंके निपुण बाधसे अपने हृदयके सन्देहको भली प्रकार दूर करके आत्मानन्दसे तृप्त हो समस्त विषयकामनाओंसे उपरत हो जाय ।

नात्मा वपुः पार्थिवमिन्द्रियाणि
देवा ह्यसुर्वायुजलं हुताशः ।
मनोऽन्नमात्रं धिषणा च सत्त्व-
महङ्कृतिः खं क्षितिरर्थसाम्यम् ॥२४॥

यह पार्थिव शरीर आत्मा नहीं है और इन्द्रियाँ उनके अधिष्ठाता देवता, प्राण, वायु, जल एवं अग्नि भी आत्मा नहीं हैं तथा अन्नमय मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, आकाश, पृथिवी और प्रकृतिमेंसे भी कोई आत्मा नहीं है, क्योंकि ये सभी जड़ हैं ।

समाहितैः कः करणैर्गुणात्मभि-
र्गुणो भवेन्मत्सुविविक्तधाम्नः[1] ।
विक्षिप्यमाणैरुत किम्नु दूषणं
घनैरुपेतैर्विगतै रवेः किम् ॥२५॥

जिसको मेरे स्वरूपका भलीभाँति ज्ञान हो गया है उसको गुणमयी

1. पा०—'भवेन्न ह्यविविक्तधाम्नः' ।

इन्द्रियोंके समाहित होनेसे लाभ क्या और विक्षिप्त रहनेसे हानि क्या ? भला बादलोंके आने-जानेसे सूर्यको क्या लाभ अथवा हानि है ?

यथा नभो वाय्वनलाम्बुभूगुणै-
र्गतागतैर्वर्तुगुणैर्न सज्जते ।
तथाक्षरं सत्त्वरजस्तमोमलै-
रहंमतेः संसृतिहेतुभिः परम् ॥२६॥

जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके गुणोंसे अथवा आने-जानेवाली ऋतुओंके गुणोंसे आकाश लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार अहङ्कारसे अतीत आत्मा संसारके कारणरूप सत्त्व, रज और तमके मलसे मलिन नहीं होता ।

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन याव-
द्रजो निरस्येत मनःकषायः ॥२७॥

तथापि जबतक कि मेरे दृढ भक्तियोगद्वारा मनका मलरूप रजोगुण निकल न जाय तबतक इन मायिक गुणोंका संग त्यागना ही चाहिये ।

यथामयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥२८॥

जिस प्रकार भली प्रकार चिकित्सा न किया गया रोग बार-बार उभरकर मनुष्यको कष्ट पहुँचाता है, उसी प्रकार वासना और

कर्मोंके परिपाकसे रहित तथा [स्त्री-पुत्रादि] सबमें आसक्त हुआ मन अधूरे योगीको गिरा देता है ।

कुयोगिनो ये विहितान्तरायै-
र्मनुष्यभूतैस्त्रिदशोपसृष्टैः ।
ते प्राक्तनाभ्यासबलेन भूयो
युञ्जन्ति योगं न तु कर्मतन्त्रम् ॥२९॥

जो देवताओंद्वारा उपस्थित किये हुए मनुष्यरूपी विघ्नोंसे बाधित होकर कुयोगी (मार्गच्युत) हो जाते हैं वे अपने पूर्वाभ्यासके कारण फिर योगमें ही प्रवृत्त होते हैं, कर्मादिमें नहीं ।

करोति कर्म क्रियते च जन्तुः
केनाप्यसौ चोदित आनिपातात् ।
न तत्र विद्वान्प्रकृतौ स्थितोऽपि
निवृत्ततृष्णः स्वसुखानुभूत्या ॥३०॥

यह जीव किसी अन्यहीकी प्रेरणासे मरणपर्यन्त कर्म करता रहता है, तथापि (अविवेकी तो अपनेको कर्त्ता मानकर उनमें बँध जाता है, परन्तु) विवेकी पुरुष आत्मानन्दके अनुभवसे तृष्णाहीन हो जानेके कारण लौकिक विषयोंमें रहता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता।

तिष्ठन्तमासीनमुत व्रजन्तं
शयानमुक्षन्तमदन्तमन्नम् ।
स्वभावमन्यत्किमपीहमान-
मात्मानमात्मस्थमतिर्न वेद ॥३१॥

जिसकी बुद्धि आत्मस्वरूपमें स्थित है वह ठहरता, बैठता,

चलता, सोता, मल-मूत्र त्याग करता, भोजन करता अथवा और कोई स्वाभाविक क्रिया करता हुआ भी अपने शरीरको नहीं जानता ।

यदि[1] स पश्यत्यसदिन्द्रियार्थं
नानानुमानेन विरुद्धमन्यत् ।
न मन्यते वस्तुतया मनीषी
स्वाप्नं यथोत्थाय तिरोदधानम् ॥३२॥

यदि विद्वान् इन्द्रियोंके किसी बाह्य असत् विषयको देखता है तो नाना प्रकारके अनुमानोंसे उसे आत्मासे भिन्न वास्तविक नहीं मानता, जिस प्रकार सोकर उठनेपर लीन हुए स्वप्नके पदार्थोंको कोई भी सत्य नहीं मानता ।

पूर्वं गृहीतं गुणकर्मचित्र-
मज्ञानमात्मन्यविविक्तमङ्ग ।
निवर्तते तत्पुनरीक्षयैव
न गृह्यते नापि विसृज्य आत्मा ॥३३॥

हे प्रियवर ! नाना प्रकारके गुण और कर्मोंसे युक्त जिन देह और इन्द्रिय आदि अज्ञानजन्य पदार्थोंको वह पहले आत्मासे मिले हुए देखता था, अब वे आत्मनिरीक्षणसे ही निवृत्त हो जाते हैं । तथा आत्माका तो न ग्रहण होता है और न त्याग ।

यथा हि भानोरुदयो नृचक्षुषां
तमो निहन्यान्न[2] तु सद्विधत्ते[3] ।
एवं समीक्षा निपुणा सती मे
हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धेः ॥३४॥

१. पा०—'इति' । २. पा०—'विहन्यात्' । ३. पा०—'संविधत्ते' ।

जिस प्रकार सूर्योदय मनुष्योंके नेत्रोंके आवरणरूप अन्धकार-को हटा देता है, किसी पदार्थकी रचना नहीं करता, उसी प्रकार मेरा स्फुट ज्ञान मानव-बुद्धिके अज्ञानान्धकारको नष्ट कर देता है।

एष स्वयंज्योतिरजोऽप्रमेयो
महानुभूतिः सकलानुभूतिः।
एकोऽद्वितीयो वचसां विरामे[1]
येनेषिता वागसवश्चरन्ति ॥३५॥

यह आत्मा स्वयंप्रकाश, अजन्मा, अप्रमेय, महानुभवरूप, सर्वानुभवस्वरूप, एक, अद्वितीय और वाणीका अविषय है; इसीकी प्रेरणासे वाणी और प्राण अपने-अपने कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं।

एतावानात्मसंमोहो यद्विकल्पस्तु केवले।
आत्मन्नृते स्वमात्मानमवलम्बो न यस्य हि ॥३६॥

अभिन्न आत्मामें जो विकल्प मानना है वही चित्तका बड़ा भारी मोह है, क्योंकि इस (विकल्प) का भी अपने आत्मस्वरूप मनके अतिरिक्त और कोई अवलम्ब नहीं है।

यन्नामाकृतिभिर्ग्राह्यं पञ्चवर्णमबाधितम्।
व्यर्थेनाप्यर्थवादोऽयं द्वयं पण्डितमानिनाम् ॥३७॥

नाम और रूपके द्वारा ग्रहण किया जानेवाला जो पाञ्च-भौतिक द्वैत अपनेको पण्डित माननेवाले मूर्खोंकी दृष्टिमें अबाधित है वह [वेदान्तशास्त्रमें] व्यर्थ अर्थवाद ही है।

योगिनोऽपक्वयोगस्य युञ्जतः काय उत्थितैः।
उपसर्गैर्विहन्येत तत्रायं विहितो विधिः ॥३८॥

१. पा०—'विरामः'।

योग-साधनके पूर्ण होनेसे पूर्व ही यदि किसी साधकका शरीर अकस्मात् उत्पन्न हुई व्याधिसे पीड़ित हो जाय तो उसके लिये ये उपाय कहे हैं—

योगधारणया कांश्चिदासनैर्धारणान्वितैः[1]।
तपोमन्त्रौषधैः कांश्चिदुपसर्गान् विनिर्दहेत् ॥३९॥

किन्हीं उपद्रवोंको योग-धारणासे, किन्हींको धारणायुक्त आसनसे और किन्हींको तप, मन्त्र तथा ओषधिसे शान्त करे।

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसङ्कीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्त्या वा हन्यादशुभदाञ्छनैः ॥४०॥

किन्हीं अशुभप्रद दोषोंको मेरे ध्यानसे, किन्हींको नाम-संकीर्तन आदिसे और किन्हींको योगेश्वरोंके ध्यानसे शनैः-शनैः नष्ट कर दे।

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥

कोई-कोई धीर योगिजन इस देहको विविध उपायोंसे सुदृढ और युवावस्थामें स्थिर करके फिर [अणिमादि] सिद्धिके लिये योग-साधन करते हैं।

न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥

चतुर पुरुषको इस मार्गका अवलम्बन नहीं करना चाहिये; यह तो व्यर्थ प्रयासमात्र है, क्योंकि वृक्षमें लगे हुए फलके समान यह शरीर तो नाशवान् ही है।

१. पा०—'धारणादिभिः'।

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात्[1] ।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥

नित्यप्रति योगसाधन करनेसे यदि शरीर सुदृढ भी हो जाय तो भी मुझे भजनेवाला बुद्धिमान् पुरुष साधनको छोड़कर उसीमें सन्तुष्ट होकर न बैठ जाय ।

योगचर्यामिमां योगी विचरन्मद्व्यपाश्रयः[2] ।
नान्तरायैर्विहन्येत निःस्पृहः स्वसुखानुभूः ॥४४॥

जो निष्काम और स्वानन्दानुभव करनेवाला योगी मेरा आश्रय लेकर इस प्रकार योग-साधनमें लगा रहता है उसको कोई विघ्न उपस्थित नहीं होते ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

उन्तीसवाँ अध्याय

भागवत-धर्म-निरूपण और उद्धवजीका बदरिकाश्रम-गमन

उद्धव उवाच

सुदुस्तरामिमां[3] मन्ये योगचर्यामनात्मनः ।
यथाञ्जसा[4] पुमान्सिध्येत्तन्मे ब्रूह्यञ्जसाच्युत ॥ १ ॥

उद्धवजी बोले—हे अच्युत ! इस योगचर्याको तो मैं अजितेन्द्रिय पुरुषके लिये अति दुःसाध्य समझता हूँ । अतः आप स्पष्टतया मुझे कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे लोग अनायास ही सिद्धि प्राप्त कर लें ।

१. पा०—'दूरतः' । २. पा०—'मदपाश्रयः' । ३. पा०—'सुदुश्चराम्' । ४. पा०—'अथ' ।

प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ॥ २ ॥

हे कमललोचन! मनको एकाग्र करनेमें लगे हुए योगिजन उसके निग्रह करनेमें असमर्थ होनेसे प्रायः उदास रहा करते हैं।

अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं
हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभि-
स्त्वन्माययामी विहता न मानिनः ॥ ३ ॥

इसीलिये, हे अरविन्दाक्ष! हे विश्वेश्वर! सारग्राही विवेकी जन अनायास ही आपके परम आनन्ददायक चरणकमलोंका आश्रय लेते हैं किन्तु जो योगकर्मोंके कारण अभिमानी हो रहे हैं वे आपकी मायासे मारे हुए हैं, उन्हें कभी सुख नहीं मिल सकता।

किं चित्रमच्युत तवैतदशेषबन्धो
दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्।
योऽरोचयत्सह मृगैः स्वयमीश्वराणां
श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः ॥ ४ ॥

हे सर्व-सुहृद् अच्युत! यदि आप अपने अनन्यशरण दासोंको अपने तुल्य कर लेते है अथवा उन्हें आत्मसमर्पण कर देते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? क्योंकि जिनके चरणकमलोंमें स्वयं ब्रह्मा आदि लोकपालगण भी अपने दीप्तिशाली मुकुट घिसा करते हैं उन्हीं आपने रामावतारमें वानरोंसे मित्रता की थी!

तं त्वाखिलात्मदयितेश्वरमाश्रितानां
सर्वार्थदं स्वकृतविद्विसृजेत को नु।

को वा भजेत्किमपि विस्मृतयेऽनुभूत्यै
किं वा भवेन्न तव पादरजोजुषां नः ॥५॥

अन्तर्यामीरूपसे अपने ऊपर किये हुए आपके उपकारोंको जानकर भी ऐसा कौन पुरुष होगा जो सम्पूर्ण प्राणियोंके आत्मा, प्रियतम, ईश्वर एवं शरणागतोंको सब कुछ देनेवाले प्रभु आपको भूल जायगा? ऐसा कौन विचारवान् होगा जो परिणाममें मोह उत्पन्न करनेवाले और केवल भोगके ही साधन तुच्छ भोगोंकी इच्छा करेगा? और फिर आपके चरण-रजका सेवन करनेवाले हमलोगोंके लिये दुर्लभ भी क्या है?

नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश
ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः ।
योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्व-
न्नाचार्यचैत्त्यवपुषा[1] स्वगतिं व्यनक्ति ॥६॥

हे ईश्वर! जो आचार्य और अन्तर्यामीरूपसे शरीरधारियोंका बाह्य और आन्तरिक मल दूर करके उन्हें अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराते हैं उन आपके उपकारोंका बदला विवेकी ब्रह्मवेत्तागण ब्रह्माके समान आयु पाकर भी नहीं चुका सकते; वे तो आपके उपकारोंका स्मरण करके ही मन-ही-मन प्रसन्न हुआ करते हैं।

श्रीशुक उवाच

इत्युद्धवेनात्यनुरक्तचेतसा
पृष्टो जगत्क्रीडनकः स्वशक्तिभिः ।
गृहीतमूर्तित्रय ईश्वरेश्वरो
जगाद सप्रेममनोहरस्मितः ॥ ७ ॥

1. पा०—'अवियंतम्'।

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! उद्धवके इस प्रकार अत्यन्त प्रेमपूर्वक पूछनेपर जगत् जिनकी क्रीड़ाकी सामग्री है और जो अपनी मायाशक्तिसे त्रिदेवरूप होकर जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करते हैं, वे ईश्वरोंके भी ईश्वर मधुर-मधुर मुसकाते हुए प्रेमपूर्वक बोले ।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि मम धर्मान्सुमङ्गलान्[१] ।
याञ्छ्रद्धया चरन्मर्त्यो मृत्युं जयति दुर्जयम् ॥ ८ ॥

श्रीभगवान्ने कहा—हे तात ! मैं तुम्हें अपने अत्यन्त मङ्गलमय [भागवत-] धर्म सुनाता हूँ जिनका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य [संसाररूप] दुर्जय मृत्युको जीत लेता है ।

कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ॥ ९ ॥

निरन्तर मुझहीमें मन और चित्तको लगाये रहनेवाला तथा जिसके आत्मा और मनका मेरे धर्मोंमें ही अनुराग हो गया है वह पुरुष मेरा स्मरण करता हुआ अपने सम्पूर्ण कर्मोंको धीरे-धीरे मेरे ही लिये करता रहे ।

देशान्पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान् ।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च ॥१०॥

जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पुण्य-स्थानोंमें रहे और देवता, असुर अथवा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हुए हैं उनके आचरणोंका अनुसरण करे ।

---

१. पा०—'महाफलान्' ।

पृथक्सत्रेण वा मह्यं पर्वयात्रामहोत्सवान् ।
कारयेद्गीतनृत्याद्यैर्महाराजविभूतिभिः ॥११॥

पर्व-दिनोंपर अकेला ही अथवा सबके साथ मिलकर नृत्य, गान, वाद्य आदि महाराजोचित ठाट-बाटसे मेरी यात्रा आदिके महोत्सव करावे ।

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम् ।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः ॥१२॥

निर्मलचित्त होकर सम्पूर्ण प्राणियोंमें और अपने आपमें मुझ आत्माको ही आकाशके समान निरावरणरूपसे बाहर-भीतर व्याप्त देखे ।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते ।
सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥१३॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः ॥१४॥

हे महातेजस्वी उद्धव ! इस प्रकार केवल ज्ञानदृष्टिका आश्रय लेकर जो समस्त प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण-भक्त, सूर्य और स्फुलिङ्ग (चिनगारी), तथा कृपालु और क्रूरमें समान दृष्टि रखता है वही पण्डित माना गया है ।

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात् ।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि ॥१५॥

---

१. पा०—'नृत्यगीताद्यैः' । २. पा०—'आत्मस्थम्' ।

अधिक समयतक सब पुरुषोंमें निरन्तर मेरी ही भावना करनेसे मनुष्यके स्पर्धा, असूया, (पर-निन्दा) तिरस्कार और अहङ्कार आदि दोष दूर हो जाते हैं ।

विसृज्य स्मयमानान्स्वान्दृशं व्रीडां च दैहिकीम् ।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥१६॥

अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलज्जाको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथिवीपर गिरकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे ।

यावत्सर्वेषु भूतेषु मद्भावो नोपजायते ।
तावदेवमुपासीत वाङ्मनःकायवृत्तिभिः[1] ॥१७॥

जबतक सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरी भावना न हो तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके समस्त व्यापारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे ।

सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययात्ममनीषया ।
परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः ॥१८॥

इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धिरूप ब्रह्मविद्याके द्वारा उसे सब कुछ ब्रह्ममय प्रतीत होने लगता है । ऐसी दृष्टि हो जानेपर सर्वथा निःसन्देह होकर उपरत हो जाय, [फिर लौकिक-वैदिक किसी प्रकारके कर्म-कलापमें न पड़े] ।

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम ।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः ॥१९॥

मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे सम्पूर्ण प्राणियोंमें

१. पा०—'कर्मभिः' ।

मेरी ही भावना करना—इसीको मैं अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ।

न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वादनाशिषः ॥२०॥

प्रिय उद्धव ! आरम्भ कर देनेके उपरान्त फिर मेरे इस धर्मका किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी ध्वंस नहीं होता, क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इस निष्काम धर्मका भलीभाँति निश्चय किया है।

यो यो मयि परे धर्मः कल्प्यते निष्फलाय चेत् ।
तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तम ॥२१॥

हे साधुश्रेष्ठ ! जो-जो भय आदिके समान निष्फल प्रयास है वह भी यदि मुझ परमात्माको अर्पण कर दिया जाय तो निष्काम होनेपर तो वह भी धर्म ही है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम् ।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥२२॥

मनुष्य जो इस असत् और नाशवान् मनुष्य-शरीरके द्वारा मुझ अजर-अमर परमात्माको प्राप्त कर लेता है यही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एष तेऽभिहितः कृत्स्नो ब्रह्मवादस्य संग्रहः ।
समासव्यासविधिना देवानामपि दुर्गमः ॥२३॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें देवताओंको भी दुर्लभ यह ब्रह्मवादका सम्पूर्ण सार-संग्रह संक्षेप और विस्तारसे सुना दिया।

---

१. पा०—'मर्त्यो वाप्नोति'।

अभीक्ष्णशस्ते गदितं ज्ञानं विस्पष्टयुक्तिमत् ।
एतद्विज्ञाय मुच्येत पुरुषो नष्टसंशयः ॥२४॥

हे उद्धव ! मैंने स्पष्ट युक्तियोंसे युक्त यह ज्ञान तुमसे बारंबार कहा है। इसको जान लेनेपर पुरुष निःसन्देह होकर मुक्त हो जाता है।

सुविविक्तं तव प्रश्नं मयैतदपि धारयेत् ।
सनातनं ब्रह्मगुह्यं परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२५॥

मैंने तुम्हारे प्रश्नका भली प्रकार विवेचन कर दिया । जो पुरुष हमारे इस प्रश्नोत्तरको ध्यानपूर्वक मनन करके धारण करेगा वह वेदोंके भी परम रहस्य सनातन परब्रह्मको प्राप्त कर लेगा ।

य एतन्मम भक्तेषु संप्रदद्यात्सुपुष्कलम् ।
तस्याहं ब्रह्मदायस्य ददाम्यात्मानमात्मना ॥२६॥

जो मनुष्य मेरे भक्तोंको इसे भलीभाँति स्पष्ट करके समझावेगा उस ज्ञानदाताको मैं अपना आत्मसमर्पण कर दूँगा ।

य एतत्समधीयीत पवित्रं परमं शुचि ।
स पूयेताहरहर्मां ज्ञानदीपेन दर्शयन् ॥२७॥

जो पुरुष इस परम पवित्र प्रसङ्गका शुद्धतापूर्वक नित्यप्रति सम्यक् प्रकारसे अध्ययन करेगा, वह ज्ञानरूपी दीपकसे मेरा साक्षात्कार करके पवित्र हो जायगा ।

य एतच्छ्रद्धया नित्यमव्यग्रः शृणुयान्नरः ।
मयि भक्तिं परां कुर्वन्कर्मभिर्न स बध्यते ॥२८॥

जो कोई एकाग्रचित्तसे इसे श्रद्धापूर्वक नित्य सुनेगा वह मेरी परा भक्ति प्राप्त करके फिर कर्म-बन्धनमें नहीं पड़ेगा ।

अप्युद्धव त्वया ब्रह्म सखे समवधारितम्[1]।
अपि ते विगतो मोहः शोकश्चासौ मनोभवः ॥२९॥

सखा उद्धव! तुमने ब्रह्मका स्वरूप भलीभाँति समझ लिया न? और तुम्हारे चित्तका मोह और शोक तो दूर हो गया न?

नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम् ॥३०॥

तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, दुष्ट-प्रकृति, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले, भक्तिहीन और नम्रताहीन पुरुषोंको कभी मत सुनाना।

एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम् ॥३१॥

जो इन दोषोंसे रहित हो, ब्राह्मण-भक्त हो, प्रेमी हो, साधु-स्वभाव हो और पवित्रचरित्र हो, तथा स्त्री और शूद्रोंमें भी जो भक्तिसम्पन्न हों उसीसे इस प्रसंगको कहना।

नैतद्विज्ञाय जिज्ञासोर्ज्ञातव्यमवशिष्यते।
पीत्वा पीयूषममृतं पातव्यं नावशिष्यते ॥३२॥

जिस प्रकार अमृतपान कर लेनेपर और कुछ पीना नहीं रहता उसी प्रकार इसको जान लेनेपर जिज्ञासुको और कुछ जानना नहीं रहता।

ज्ञाने कर्मणि योगे च वार्तायां दण्डधारणे।
यावानर्थो नृणां तात तावांस्तेऽहं चतुर्विधः ॥३३॥

हे तात! ज्ञान, कर्म, योग, वाणिज्य और राज-दण्डादिसे मनुष्योंको जो [मोक्ष, धर्म, काम और अर्थरूप] फल प्राप्त होता है वह चारों प्रकारका फल तुम-जैसे अनन्य भक्तोंके लिये मैं ही हूँ।

१. पा०—'समुपधारितम्'।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥३४॥

जिस समय मनुष्य समस्त कर्म छोड़कर मुझे आत्मसमर्पण करके सब कार्य मेरे ही लिये करना चाहता है उस समय वह मोक्षरूप अमरपदको पाकर मेरा ही स्वरूप हो जाता है ।

श्रीशुक उवाच

स एवमादर्शितयोगमार्ग-
स्तदोत्तमश्लोकवचो निशम्य ।
बद्धाञ्जलिः प्रीत्युपरुद्धकण्ठो
न किञ्चिदूचेऽश्रुपरिप्लुताक्षः ॥३५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! पुण्यकीर्ति भगवान् कृष्णचन्द्रसे इस प्रकार योगमार्गका उपदेश पानेपर उनके वचन सुनकर उद्धवकी आँखोंमें आँसू भर आये, प्रेमके कारण उनका गला रुक गया और वे कुछ न बोल सके; केवल हाथ जोड़े रह गये ।

विष्टभ्य चित्तं प्रणयावघूर्णं
धैर्येण राजन्बहु मन्यमानः ।
कृताञ्जलिः प्राह यदुप्रवीरं
शीर्ष्णा स्पृशंस्तच्चरणारविन्दम् ॥३६॥

हे राजन् ! फिर धैर्यपूर्वक अपने चित्तके प्रेमावेशको रोककर उद्धवजी अपनेको बड़भागी मानते हुए, भगवान् यदुनाथके चरणोंपर शिर रखकर उनसे हाथ जोड़कर बोले ।

उद्धव उवाच

विद्रावितो मोहमहान्धकारो[1]
य आश्रितो मे तव सन्निधानात्।
विभावसोः किं नु समीपगस्य
शीतं तमो भीः प्रभवन्त्यजाद्य[2] ॥३७॥

उद्धवजी बोले—हे ब्रह्माजीके भी उत्पत्तिकर्ता प्रभो ! मैंने जिस मोहमय (घोर) अन्धकारको आश्रय दे रक्खा था वह आपके सहवाससे भाग गया। अग्निके समीप पहुँच जानेपर भी क्या शीत, अन्धकार और भय आदि ठहर सकते हैं ?

प्रत्यर्पितो मे भवतानुकम्पिना
भृत्याय विज्ञानमयः प्रदीपः।
हित्वा कृतज्ञस्तव पादमूलं
कोऽन्यत्समीयाच्छरणं त्वदीयम् ॥३८॥

हे प्रभो ! जिसे आपकी मोहिनी मायाने हर लिया था आपने कृपा करके वह ज्ञानदीपक मुझ सेवकको फिर लौटा दिया। आपकी ऐसी कृपा जानकर भी ऐसा कौन होगा जो आपके चरण-कमलोंका आश्रय छोड़कर किसी औरकी शरणमें जायगा।

वृक्णश्च मे सुदृढः स्नेहपाशो
दाशार्हवृष्ण्यन्धकसात्वतेषु।
प्रसारितः सृष्टिविवृद्धये त्वया
स्वमायया ह्यात्मसुबोधहेतिना ॥३९॥

१. पा०—'मोहमयोऽन्धकारः'। २. पा०—'अजस्रम्'।

आपने अपनी मायासे सृष्टि-वृद्धिके लिये जो दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक और सात्वतवंशी यादवोंमें मेरा सुदृढ़ स्नेह-पाश फैला रक्खा था उसे आज आपने आत्मबोधरूपी तीक्ष्ण खड्गसे काट डाला।

नमोऽस्तु ते महायोगिन्प्रपन्नमनुशाधि माम्।
यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी ॥४०॥

हे महायोगेश्वर! आपको नमस्कार है; अब आप मुझ शरणागतको ऐसी आज्ञा दीजिये जिससे आपके चरणकमलोंमें मेरी अविचल भक्ति हो।

श्रीभगवानुवाच

गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्यं ममाश्रमम्।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचिः ॥४१॥

श्रीभगवान् बोले—हे उद्धव! मेरी आज्ञासे अब तुम बदरीनारायणनामक मेरे आश्रमको जाओ। वहाँ मेरे चरणकमलोंसे उत्पन्न गङ्गाजीके अति पुनीत जलके स्नान और पानसे तुम पवित्र हो जाओगे।

ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः।
वसानो वल्कलान्यङ्ग वन्यभुक्सुखनिःस्पृहः ॥४२॥

अलकनन्दाके दर्शनोंसे तुम्हारे समस्त पाप दूर हो जायँगे। हे प्रियवर! वहाँ तुम वल्कल-वस्त्र धारणकर वनके कन्द, मूल, फल भोजन करते हुए निःस्पृह वृत्तिसे सुखपूर्वक रहना।

तितिक्षुर्द्वन्द्वमात्राणां सुशीलः संयतेन्द्रियः।
शान्तः समाहितधिया ज्ञानविज्ञानसंयुतः ॥४३॥

तथा शीतोष्णादि द्वन्द्वोंको सहन करते हुए, सुशील और

जितेन्द्रिय होकर शान्तचित्त हो एकाग्र बुद्धिसे ज्ञान और विज्ञानसे युक्त रहना।

मत्तोऽनुशिक्षितं यत्ते विविक्तमनुभावयन्।
मय्यावेशितवाक्चित्तो मद्धर्मनिरतो भव।
अतिव्रज्य गतीस्तिस्रो मामेष्यसि ततः परम्॥४४॥

मुझसे तुम्हें जो कुछ शिक्षा मिली है उसका अच्छी तरह विचार करते हुए तथा मुझहीमें वाणी और चित्तको लगाते हुए मेरे धर्मोंमें ही तत्पर रहना। ऐसा करते रहनेसे तुम तीनों गुणोंकी गतिको लाँघकर अन्तमें मुझ परब्रह्मको प्राप्त हो जाओगे।

श्रीशुक उवाच

स एवमुक्तो हरिमेधसोद्धवः
प्रदक्षिणं तं परिसृत्य पादयोः।
शिरो निधायाश्रुकलाभिरार्द्रधी-
र्न्यषिञ्चदद्वन्द्वपरोऽप्यपक्रमे॥४५॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! जिनका ज्ञान हो जानेपर संसार-भ्रम हर लिया जाता है उन श्रीकृष्णचन्द्रके ऐसा कहनेपर उद्धवजीने उठकर उनकी परिक्रमा की और उनके चरणोंपर अपना शिर रख दिया; वे द्वन्द्वोंसे परे थे तो भी वहाँसे चलते समय उनका चित्त प्रेमवश भर आया और अपने नेत्रोंकी अश्रुधारासे उन्होंने भगवान्‌के चरण भिगो दिये।

सुदुस्त्यजस्नेहवियोगकातरो
न शक्नुवंस्तं परिहातुमातुरः।

कृच्छ्रं ययौ मूर्ध्नि भर्तृपादुके
बिभ्रन्नमस्कृत्य ययौ पुनः पुनः ॥४६॥

जिनके स्नेहको छोड़ना अत्यन्त कठिन है उन श्रीकृष्णके वियोग होनेसे वे व्याकुल हो गये, तथा उन्हें एकाएकी न छोड़ सकनेके कारण उन्होंने अति आतुर होकर स्वामीकी चरणपादुकाएँ ले लीं और उन्हें अपने शिरपर रखकर बारंबार प्रणाम करनेके अनन्तर जैसे-तैसे अपना मन मसोसकर वहाँसे चले।

ततस्तमन्तर्हृदि[1] संनिवेश्य
गतो महाभागवतो विशालाम्।
यथोपदिष्टां जगदेकबन्धुना
तपः समास्थाय हरेरगाद्गतिम् ॥४७॥

महाभागवत उद्धवजी हृदयमें भगवान्की दिव्य छवि धारण किये बदरिकाश्रम पहुँचे और वहाँ संसारके एकमात्र सुहृद श्रीहरिके आदेशानुसार आचरण करते हुए अन्तमें परमगतिको प्राप्त हुए।

य एतदानन्दसमुद्रसंभृतं
ज्ञानामृतं भागवताय भाषितम्।
कृष्णेन योगेश्वरसेविताङ्घ्रिणा
सच्छ्रद्धयासेव्य जगद्विमुच्यते ॥४८॥

योगेश्वर जिनके चरणोंकी सेवा करते हैं उन्हीं श्रीकृष्णचन्द्रने आनन्द-समुद्रसे उत्पन्न हुआ यह ज्ञानामृत अपने अनन्य भक्त उद्धवको सुनाया। जो पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक थोड़ा-सा भी सेवन करता है [वह संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है; अधिक क्या] जगत् ही उसके सङ्गसे छूट जाता है।

[1] पा०—'तमाधन्'।

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं
निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद्वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद्भृत्यवर्गान्
पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥४९॥

जिन वेदप्रकाशक भगवान्‌ने संसारभयको दूर करनेके लिये फूलोंसे साररूप मधुको निकाल लेनेवाले भ्रमरके समान एक तो समस्त वेद-वेदान्तोंका साररूप यह ज्ञान-विज्ञानका सार निकाला और दूसरा समुद्रसे अमृत निकाला तथा इन्हें अपने [निवृत्तिमार्गी और प्रवृत्तिमार्गी] भक्तोंको पिलाया उन कृष्णनामक सनातन पुरुषोत्तमको मैं प्रणाम करता हूँ ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

तीसवाँ अध्याय

यदुवंश-विनाश

राजोवाच

ततो महाभागवत उद्धवे निर्गते वनम् ।
द्वारवत्यां किमकरोद्भगवान्भूतभावनः ॥ १ ॥

राजा परीक्षितने पूछा—हे ब्रह्मन् ! महान् भगवद्भक्त उद्धवजीके वनको चले जानेपर भूतभावन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने द्वारकामें क्या किया ?

ब्रह्मशापोपसंसृष्टे स्वकुले यादवर्षभः ।
प्रेयसीं सर्वनेत्राणां तनुं स कथमत्यजत् ॥ २ ॥

उन यदुकुलभूषणने ब्रह्मशापसे अपने कुलके ग्रस्त हो जानेपर समस्त नेत्रों (इन्द्रियों) को सुख देनेवाले अपने शरीरको किस प्रकार त्यागा ?

प्रत्याक्रष्टुं नयनमबला यत्र लग्नं न शेकुः
कर्णाविष्टं न सरति ततो यत्सतामात्मलग्नम् ।
यच्छ्रीर्वाचां जनयति रतिं किं नु मानं[1] कवीनां
दृष्ट्वाजिष्णोर्युधि रथगतं यच्च तत्साम्यमीयुः ॥ ३ ॥

जिसमें लगे हुए नेत्रोंको स्त्रियाँ नहीं मोड़ सकतीं, कर्णमार्गसे प्रविष्ट होनेपर जो सज्जनोंके चित्तसे नहीं निकलता, जिसकी शोभा [वर्णित की जानेपर] कवियोंकी वाणीको आनन्दित करती है और उन (कवियों) के मानका तो कहना ही क्या है ? तथा जिसे अर्जुनके रथपर विराजमान देखकर युद्धमें मरनेवाले योद्धाओंको सारूप्य-मुक्ति प्राप्त हुई, [उस अति अद्भुत शरीरको भगवान्‌ने कैसे छोड़ा ?]

श्रीशुक उवाच

दिवि भुव्यन्तरिक्षे च महोत्पातान्समुत्थितान् ।
दृष्ट्वासीनान् सुधर्मायां कृष्णः प्राह यदूनिदम् ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! श्रीकृष्णचन्द्रने आकाश, पृथिवी और अन्तरिक्षमें महान् उत्पातोंको उठते देखकर सुधर्मा नामकी सभामें बैठे हुए यादवोंसे कहा ।

श्रीभगवानुवाच

एते घोरा महोत्पाता द्वार्वत्यां यमकेतवः ।
मुहूर्त्तमपि न स्थेयमत्र नो यदुपुङ्गवाः ॥ ५ ॥

१. पा०—'कीर्त्यमानाम्' ।

श्रीभगवान् बोले—हे यादवश्रेष्ठगण ! द्वारकापुरीमें होनेवाले ये महान् उत्पात मानो यमराजकी ध्वजा ही हैं; अब हमको यहाँ एक क्षणभर भी नहीं ठहरना चाहिये ।

स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च शङ्खोद्धारं व्रजन्त्वितः ।
वयं प्रभासं यास्यामो यत्र प्रत्यक् सरस्वती ॥ ६ ॥

स्त्री, बालक और बड़े-बूढ़ोंको तो यहाँसे शंखोद्धार-क्षेत्रको जाने दो और हम सब लोग प्रभासक्षेत्रको चलेंगे जहाँ कि पश्चिमकी ओर बहनेवाली सरस्वती नदी है ।

तत्राभिषिच्य शुचय उपोष्य सुसमाहिताः ।
देवताः पूजयिष्यामः स्नपनालेपनार्हणैः ॥ ७ ॥

उस तीर्थमें स्नान करके पवित्र हो हम उपवास करेंगे और एकाग्रचित्तसे स्नान, चन्दन आदि सामग्रियोंसे देवताओंका पूजन करेंगे ।

ब्राह्मणांस्तु महाभागान्कृतस्वस्त्ययना वयम् ।
गोभूहिरण्यवासोभिर्गजाश्वरथवेश्मभिः ॥ ८ ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचन हो चुकनेपर हम गौ, भूमि, सुवर्ण, वस्त्र, गज, अश्व, रथ और गृह आदिसे महाभाग ब्राह्मणोंका सत्कार करेंगे ।

विधिरेष ह्यरिष्टघ्नो मङ्गलायनमुत्तमम् ।
देवद्विजगवां पूजा भूतेषु परमो भवः ॥ ९ ॥

यह विधि हमारे अरिष्टका नाश करनेवाली और अत्युत्तम मङ्गलकारिणी है । देवता, ब्राह्मण और गौओंकी पूजा ही प्राणियोंके जन्मका परम लाभ है ।

इति सर्वे समाकर्ण्य यदुवृद्धा मधुद्विषः ।
तथेति नौभिरुत्तीर्य प्रभासं प्रययू रथैः ॥ १० ॥

भगवान् मधुसूदनके इस कथनको सुनकर सब वृद्ध यादवोंने उसका अनुमोदन किया और तुरन्त नौकाओंसे समुद्र पार करके रथोंद्वारा प्रभास-क्षेत्रको चल दिये।

तस्मिन्भगवतादिष्टं यदुदेवेन यादवाः।
चक्रुः परमया भक्त्या सर्वश्रेयोपबृंहितम् ॥११॥

वहाँ भगवान् यदुनाथके आदेशको सब यादवोंने परम श्रद्धा और भक्तिसे समस्त मङ्गल-कृत्योंके सहित पालन किया।

ततस्तस्मिन्महापानं पपुर्मैरेयकं मधु।
दिष्टविभ्रंशितधियो यद्द्रवैर्भ्रश्यते मतिः ॥१२॥

फिर प्रारब्धवश बुद्धि भ्रष्ट हो जानेके कारण उन्होंने जिसके पीनेसे बुद्धि ठिकाने नहीं रहती उस मैरेयक नामकी अति सुरस महामदिराका पान किया।

महापानाभिमत्तानां वीराणां दृप्तचेतसाम्।
कृष्णमायाविमूढानां संघर्षः सुमहानभूत् ॥१३॥

उस तीव्र मदिरासे उन्मत्त हुए और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे मोहित हुए उन गर्वीले वीरोंमें परस्पर बड़ा भारी झगड़ा छिड़ गया।

युयुधुः क्रोधसंरब्धा वेलायामाततायिनः।
धनुर्भिरसिभिर्भल्लैर्गदाभिस्तोमरर्ष्टिभिः ॥१४॥

उस समय अति क्रोधावेशसे वे आततायी धनुष, बाण, खड्ग, भाला, गदा, तोमर और ऋष्टि आदि अस्त्र-शस्त्रोंसे वहाँ समुद्र-तटपर लड़ने लगे।

पतत्पताकै रथकुञ्जरादिभिः
खरोष्ट्रगोभिर्महिषैर्नरैरपि ।
मिथः समेत्याश्वतरैः सुदुर्मदा
न्यहञ्शरैर्दद्भिरिव द्विपा वने ॥१५॥

फहराती हुई पताकाओंवाले रथों, हाथियों, गधों, ऊँटों, बैलों, भैंसों, खच्चरों और मनुष्योंके सहित परस्पर भिड़कर वे मदोन्मत्त यादव वनमें दन्त-प्रहार करके लड़ते हुए हाथियोंके समान आपसमें लड़ने लगे।

प्रद्युम्नसाम्बौ युधि रूढमत्सरा-
वक्रूरभोजावनिरुद्धसात्यकी ।
सुभद्रसंग्रामजितौ सुदारुणौ
गदौ सुमित्रासुरथौ समीयतुः ॥१६॥

उस युद्धमें प्रद्युम्न और साम्ब, अक्रूर और भोज, अनिरुद्ध और सात्यकि, दारुण योद्धा सुभद्र और संग्रामजित्, [श्रीकृष्णचन्द्र-का भाई और उनका पुत्र] दोनों गद तथा सुमित्र और सुरथ ये सब वीर परस्पर अत्यन्त मत्सरपूर्वक भिड़ गये।

अन्ये च ये वै निशठोल्मुकादयः
सहस्रजिच्छतजिद्भानुमुख्याः ।
अन्योऽन्यमासाद्य मदान्धकारिता
जघ्नुर्मुकुन्देन विमोहिता भृशम् ॥१७॥

इनके सिवाय निशठ, उल्मुक, सहस्रजित्, शतजित् और भानु आदि जो अन्य वीर थे वे भी भगवान्‌की मायासे मोहित और मदसे उन्मत्त होकर परस्पर एक दूसरेको मारने लगे।

दाशार्हवृष्ण्यन्धकभोजसात्वता
मध्वर्बुदा माथुरशूरसेनाः ।
विसर्जनाः कुकुराः कुन्तयश्च
मिथस्ततस्तेऽथ विसृज्य सौहृदम् ॥१८॥

दाशार्ह, वृष्णि, अन्धक, भोज, सात्वत, मधु, अर्बुद, माथुर, शूरसेन, विसर्जन, कुकुर और कुन्ति आदि कुलोंके लोग परस्पर स्नेह छोड़कर लड़ने लगे।

पुत्रा अयुध्यन्पितृभिर्भ्रातृभिश्च
स्वस्रीयदौहित्रपितृव्यमातुलैः ।
मित्राणि मित्रैः सुहृदः सुहृद्भि-
र्ज्ञातींस्त्वहन् ज्ञातय एव मूढाः ॥१९॥

तब [मदिरापानसे] उन्मत्त हो पुत्र पितासे, [भाई] भाईसे [मामा] भानजोंसे, [नाना] धेवतोंसे, [भतीजे] चाचाओंसे तथा [भानजे] मामाओंसे लड़ने लगे। इसी प्रकार मित्रोंसे मित्र और बन्धुओंसे बन्धु भिड़ गये तथा सजातीयगण अपने सजातीयों-पर प्रहार करने लगे।

शरेषु क्षीयमाणेषु भज्यमानेषु धन्वसु ।
शस्त्रेषु क्षीयमाणेषु मुष्टिभिर्जहुरेरकाः ॥२०॥

अन्तमें, बाणोंके समाप्त हो जानेपर, धनुषोंके टूट जानेपर और अन्य समस्त शस्त्रोंके भी क्षीण हो जानेपर उन्होंने मुट्ठी बाँधकर [समुद्रतटपर उस मूसलके चूर्णसे ही उत्पन्न हुए] सरकण्डोंको उखाड़ा।

ता वज्रकल्पा ह्यभवन्परिघा मुष्टिना भृताः[1] ।
जघ्नुर्द्विषस्तैः कृष्णेन वार्यमाणास्तु तं च ते ॥२१॥

उनकी मुट्ठियोंमें लगे हुए वे सरकण्डे लोह-दण्ड और वज्रके समान हो गये । वे रोषमें भरकर उन्हींसे प्रहार करने लगे और जब श्रीकृष्णचन्द्रने उन्हें रोका तो वे उन्हें भी मारनेको दौड़े ।

प्रत्यनीकं मन्यमाना बलभद्रं च मोहिताः ।
हन्तुं कृतधियो राजन्नापन्ना आततायिनः[2] ॥२२॥

हे राजन् ! उन मूढ़बुद्धि आततायियोंने बलरामजीको भी अपना शत्रु मानकर उन्हें मारनेके विचारसे आक्रमण किया ।

अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन ।
एरकामुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि ॥२३॥

हे कुरुनन्दन परीक्षित ! तब कृष्ण और बलदेव भी क्रोधमें भरकर युद्धभूमिमें घूमते हुए उन सरकण्डों और मुट्ठीरूप लोह-दण्डोंसे उनपर प्रहार करने लगे ।

ब्रह्मशापोपसृष्टानां कृष्णमायावृतात्मनाम् ।
स्पर्धाक्रोधः क्षयं निन्ये वैणवोऽग्निर्यथा वनम् ॥२४॥

बाँसोंके वनको जिस प्रकार दावानल भस्म कर देता है उसी प्रकार ब्रह्मशापसे ग्रस्त और श्रीकृष्णचन्द्रकी मायासे विमोहित उन यादवोंके स्पर्धाजनित क्रोधने उनका ध्वंस कर दिया ।

एवं नष्टेषु सर्वेषु कुलेषु स्वेषु केशवः ।
अवतारितो भुवो भार इति मेनेऽवशेषितः ॥२५॥

1. पा०—'धृताः' । 2. पा०—'आपतन्नाततायिनः' ।

इस प्रकार अपने समस्त स्वजनोंके नष्ट हो जानेपर भगवान्‌ने विचार किया कि अब तो पृथिवीका रहा-सहा भार भी उतर गया।

रामः समुद्रवेलायां योगमास्थाय पौरुषम्।
तत्याज लोकं[1] मानुष्यं संयोज्यात्मानमात्मनि ॥२६॥

बलरामजीने भी समुद्र-तटपर परमपुरुषके चिन्तनरूप योगका आश्रय ले अपने आत्माको आत्मा (उसके शुद्धस्वरूप) में स्थितकर अपना मनुष्य-शरीर छोड़ दिया।

रामनिर्याणमालोक्य भगवान् देवकीसुतः।
निषसाद धरोपस्थे तूष्णीमासाद्य पिप्पलम् ॥२७॥
बिभ्रच्चतुर्भुजं रूपं भ्राजिष्णु प्रभया स्वया।
दिशो वितिमिराः कुर्वन्विधूम इव पावकः ॥२८॥

इस प्रकार बलरामजीकी परमपदप्राप्ति देखकर भगवान् देवकीनन्दन अति देदीप्यमान चतुर्भुजरूप धारण कर अपनी दिव्य कान्तिसे दशों दिशाओंको अन्धकारहीन करते हुए धूम्रहीन अग्निके समान सुशोभित हो एक पीपलके वृक्षकी छायामें पृथिवी-पर शान्तभावसे मौन होकर बैठ गये।

श्रीवत्साङ्कं घनश्यामं तप्तहाटकवर्चसम्।
कौशेयाम्बरयुग्मेन परिवीतं सुमङ्गलम् ॥२९॥

उस समय भगवान्‌का मेघके समान श्यामवर्ण, तप्त सुवर्णकी-सी कान्तिवाला, श्रीवत्सचिह्नसे सुशोभित एवं दो रेशमी पीताम्बरोंसे युक्त परम मङ्गलमय स्वरूप था।

१. पा०—'लोकमाविश्य'।

सुन्दरस्मितवक्त्राब्जं नीलकुन्तलमण्डितम् ।
पुण्डरीकाभिरामाक्षं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२०॥

जो मनोहर मुसकानयुक्त मुखकमलवाला, नील अलकावलीसे सुशोभित, कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंसे युक्त तथा झिलमिलाते हुए मकराकृत कुण्डलोंवाला था ।

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रकिरीटकटकाङ्गदैः ।
हारनूपुरमुद्राभिः कौस्तुभेन विराजितम् ॥२१॥

[वह मंगलमय विग्रह] करधनी, यज्ञोपवीत, मुकुट, कङ्कण, भुजबन्ध, हार, नूपुर, अंगूठियाँ और कौस्तुभमणिसे सुशोभित था ।

वनमालापरीताङ्गं मूर्तिमद्भिर्निजायुधैः ।
कृत्वोरौ दक्षिणे पादमासीनं पङ्कजारुणम् ॥२२॥

उसके सर्वाङ्गमें वनमाला सुशोभित थी तथा शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म आदि आयुध मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित थे । उस समय वह भगवन्मूर्ति अपना अरुण कमल-सदृश वाम चरण दाहिनी जङ्घापर रखकर विराजमान थी ।

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा ।
मृगास्याकारं तच्चरणं विव्याध मृगशङ्कया ॥२३॥

तब जरा नामके व्याधने, जिसने कि [मछलीके पेटसे प्राप्त हुए] मूसलके बचे हुए टुकड़ेसे अपने बाणकी गाँसी बनायी थी, भगवान्के मृगाकार चरणको दूरसे मृग समझकर [उसी बाणसे] वेध दिया ।

चतुर्भुजं तं पुरुषं दृष्ट्वा स कृतकिल्बिषः ।
भीतः पपात शिरसा पादयोरसुरद्विषः ॥२४॥

पास जानेपर उन चतुर्भुजमूर्ति महापुरुषको देखकर वह अपराधी होनेके कारण भयसे काँपता हुआ दैत्यदलन भगवान्‌के चरणोंमें गिर पड़ा।

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन।
क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥३५॥

[और कहने लगा—] हे मधुसूदन! मुझ पापीसे अनजानमें यह अपराध हो गया है। हे उत्तमश्लोक! हे अनघ! मैं आपका अपराधी हूँ, कृपा करके क्षमा करें।

यस्यानुस्मरणं नृणामज्ञानध्वान्तनाशनम्।
वदन्ति तस्य ते विष्णो मयासाधु कृतं प्रभो ॥३६॥

हे विष्णो! हे प्रभो! जिनका स्मरण मनुष्योंके अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाला कहा जाता है, हाय! उन्हीं आपका मुझसे अहित हो गया।

तन्माशु जहि वैकुण्ठ पाप्मानं मृगलुब्धकम्।
यथा पुनरहं त्वेवं न कुर्यां सदतिक्रमम् ॥३७॥

हे वैकुण्ठ! मैं निरपराध मृगोंको मारनेवाला महापापी हूँ, आप शीघ्र ही मुझे मार डालिये, जिससे कि फिर मुझसे महापुरुषोंका ऐसा अपराध न हो।

यस्यात्मयोगरचितं न विदुर्विरिञ्चो
रुद्रादयोऽस्य तनयाः पतयो गिरां ये।
त्वन्मायया पिहितदृष्टय एतदञ्जः
किं तस्य ते वयमसद्गतयो गृणीमः ॥३८॥

जिनकी आत्मयोगरचित सृष्टिको ब्रह्माजी और उनके पुत्र रुद्र आदि भी, जो सम्पूर्ण विद्याओंके पारदर्शी हैं, नहीं जानते, क्योंकि उनकी दृष्टि भी आपकी मायासे आवृत है; फिर हम तो जन्मसे ही महानीच हैं—हम उसके विषयमें क्या कह सकते हैं ?

श्रीभगवानुवाच

मा भैर्जरे त्वमुत्तिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।
याहि त्वं मदनुज्ञातः स्वर्गं सुकृतिनां पदम् ॥३९॥

श्रीभगवान् बोले—अरे जरा ! तू मत डर, खड़ा हो, यह सब तो मेरी ही इच्छासे हुआ है । अब तू मेरी आज्ञासे पुण्यवानों-के प्राप्यस्थान स्वर्गको जा ।

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता कृष्णेनेच्छाशरीरिणा ।
त्रिः परिक्रम्य तं नत्वा विमानेन दिवं ययौ ॥४०॥

स्वेच्छाशरीरधारी श्रीकृष्णचन्द्रका ऐसा आदेश पाकर वह व्याध भगवान्‌की तीन परिक्रमा कर उन्हें प्रणाम करनेके अनन्तर विमानपर चढ़कर स्वर्गको चला गया ।

दारुकः कृष्णपदवीमन्विच्छन्नधिगम्य ताम् ।
वायुं तुलसिकामोदमाघ्रायाभिमुखं ययौ ॥४१॥

इधर, भगवान्‌का सारथि दारुक उनके चरणचिह्नोंको खोजता हुआ उनका पता पाकर तुलसीकी गन्धयुक्त वायुको सूँघता हुआ उसी ओर चला ।

तं तत्र तिग्मद्युभिरायुधैर्वृतं
ह्यश्वत्थमूले कृतकेतनं पतिम् ।

स्नेहप्लुतात्मा निपपात पादयो
रथादवप्लुत्य स बाष्पलोचनः ॥४२॥

वहाँ अपने स्वामीको अश्वत्थ-वृक्षके नीचे तीव्र तेजयुक्त और अपने मूर्तिमान् आयुधोंसे घिरे हुए देखकर वह रथसे उतर पड़ा, उसकी आँखोंमें आँसू भर आये और वह प्रेमातुर हो उनके चरणोंमें गिर पड़ा।

अपश्यतस्त्वच्चरणाम्बुजं प्रभो
दृष्टिः प्रनष्टा तमसि प्रविष्टा ।
दिशो न जाने न लभे च शान्तिं
यथा निशायामुडुपे प्रनष्टे ॥४३॥

[वह कहने लगा—] हे प्रभो! रात्रिमें चन्द्रमाके अस्त हो जानेसे जैसी दशा होती है उसी प्रकार आपके चरणकमलोंको न देख पानेसे मेरी दृष्टि नष्ट और घोर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी है। मैं नहीं जानता कि किस ओर जाऊँ, और न मुझे शान्ति ही मिलती है।

इति ब्रुवति सूते वै रथो गरुडलाञ्छनः ।
खमुत्पपात राजेन्द्र साश्वध्वज उदीक्षतः ॥४४॥

हे राजेन्द्र! सारथिके ऐसा कहनेपर भगवान्‌का गरुडचिह्न-सुशोभित रथ घोड़ोंके सहित उसके देखते-देखते आकाशमें उड़ गया।

तमन्वगच्छन्दिव्यानि विष्णुप्रहरणानि च ।
तेनातिविस्मितात्मानं सूतमाह जनार्दनः ॥४५॥

और फिर उसके पीछे भगवान्‌के दिव्य आयुध भी चले गये। यह सब देखकर अति विस्मित हुए सारथिसे जनार्दन श्रीकृष्णचन्द्र बोले—

गच्छ द्वारवतीं सूत ज्ञातीनां निधनं मिथः ।
संकर्षणस्य निर्याणं बन्धुभ्यो ब्रूहि मद्दशाम् ॥४६॥

हे सूत ! अब तुम द्वारकापुरीको जाओ और हमारे बन्धु-बान्धवोंको यादवोंके पारस्परिक विध्वंस, बलरामजीकी परमगति और मेरी दशाका वृत्तान्त सुनाओ ।

द्वारकायां च न स्थेयं भवद्भिश्च स्वबन्धुभिः ।
मया त्यक्तां यदुपुरीं समुद्रः प्लावयिष्यति ॥४७॥

अब तुमलोगोंको अपने बन्धु-बान्धवोंसहित द्वारकामें नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मेरी त्यागी हुई उस यदुपुरीको समुद्र डुबो देगा ।

स्वं स्वं परिग्रहं सर्वे आदाय पितरौ च नः ।
अर्जुनेनाविताः सर्व इन्द्रप्रस्थं गमिष्यथ ॥४८॥

सब लोग अपने-अपने धन, कुटुम्ब और मेरे माता-पिता आदिको लेकर अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ चले जायँ ।

त्वं तु मद्धर्ममास्थाय ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः ।
मन्मायारचनामेतां विज्ञायोपशमं व्रज ॥४९॥

और तुम तो मेरे भागवत-धर्मोंका आचरण करते हुए ज्ञान-निष्ठ और निरपेक्ष होकर इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको मेरी मायाकी रचना समझो और शान्तिको प्राप्त होओ ।

इत्युक्तस्तं परिक्रम्य नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
तत्पादौ शीर्ष्ण्युपाधाय दुर्मनाः प्रययौ पुरीम् ॥५०॥

भगवान्‌के ये वचन सुनकर दारुक वारंवार उनकी परिक्रमा कर और चरणोंमें शिर रख प्रणाम करनेके अनन्तर अति उदास मनसे द्वारकापुरीको चला गया ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे
त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

ॐ

इकतीसवाँ अध्याय

श्रीभगवान्‌का स्वधाम-गमन

श्रीशुक उवाच

अथ तत्रागमद्ब्रह्मा भवान्या च समं भवः ।
महेन्द्रप्रमुखा देवा मुनयः सप्रजेश्वराः ॥ १ ॥
पितरः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।
चारणा यक्षरक्षांसि किन्नराप्सरसो द्विजाः ॥ २ ॥
द्रष्टुकामा भगवतो निर्याणं परमोत्सुकाः ।
गायन्तश्च गृणन्तश्च शौरेः कर्माणि जन्म च ॥ ३ ॥
ववृषुः पुष्पवर्षाणि विमानावलिभिर्नभः ।
कुर्वन्तः सङ्कुलं राजन्भक्त्या परमया युताः ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! तदनन्तर ब्रह्माजी, भवानीके सहित भगवान् शङ्कर, इन्द्रादि देवगण, प्रजापतियोंके सहित मुनिजन, पितर, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर, नाग, चारण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, अप्सरा और द्विजगण आदि भगवान्‌के परमधामगमनको देखनेके लिये परम उत्सुक होकर उनके जन्म और कर्मोंका गान एवं कथन करते हुए वहाँ आये। वे अपने विमानोंसे सम्पूर्ण आकाशको परिपूर्ण करते हुए परमभक्तिपूर्वक भगवान्‌पर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे ।

भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।
संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥ ५ ॥

सर्वव्यापक भगवान्‌ने पितामह ब्रह्माजी और अपनी अन्यान्य

विभूतियोंको देखकर अपने आत्माको स्वरूपमें स्थित कर अपने नेत्रकमल मूँद लिये ।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।
योगधारणयाग्नेय्यादग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ॥ ६ ॥

धारणा और ध्यानके लिये अति मंगलरूप तथा त्रिभुवनकी शोभा बढ़ानेवाले अपने दिव्य शरीरको योगाग्निसे भस्म किये विना ही भगवान्‌ने अपने धाममें प्रवेश किया ।

दिवि दुन्दुभयो नेदुः पेतुः सुमनसश्च खात् ।
सत्यं धर्मो धृतिर्भूमेः कीर्तिः श्रीश्चानु तं ययुः ॥ ७ ॥

उस समय स्वर्गलोकमें नगाड़े बजने लगे और आकाशसे पुष्पोंकी वर्षा होने लगी । हे राजन् ! भगवान्‌के साथ ही इस लोकसे सत्य, धर्म, धैर्य, कीर्ति और लक्ष्मी भी चली गयीं ।

देवादयो ब्रह्ममुख्या न विशन्तं[1] स्वधामनि ।
अविज्ञातगतिं कृष्णं ददृशुश्चातिविस्मिताः ॥ ८ ॥

अति विस्मित हुए ब्रह्मा आदि देवताओंने भी उन अविज्ञेय-गति भगवान् कृष्णको अपने धाममें प्रवेश करते हुए न देख पाया ।

सौदामन्या[2] यथाकाशे यान्त्या[3] हित्वाभ्रमण्डलम् ।
गतिर्न लक्ष्यते मर्त्यैस्तथा कृष्णस्य दैवतैः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार एक बादलमेंसे दूसरेमें जाती हुई विद्युत्‌की गति मनुष्योंको दिखलायी नहीं देती उसी प्रकार देवताओंको भगवान्‌की गति न दीख पड़ी ।

ब्रह्मरुद्रादयस्ते तु दृष्ट्वा योगगतिं हरेः ।
विस्मितास्तां प्रशंसन्तः स्वं स्वं लोकं ययुस्तदा ॥ १० ॥

१. पा०—'निविशन्तम्' । २. पा०—'सौदामिनी' । ३. पा०—'याति' ।

भगवान्‌की इस योगगतिको देखकर अति आश्चर्यान्वित हुए ब्रह्मा और रुद्र आदि उनकी प्रशंसा करते अपने-अपने लोकोंको चले गये।

राजन्परस्य तनुभृज्जननाप्ययेहा
मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य।
सृष्ट्वात्मनेदमनुविश्य विहृत्य चान्ते
संहृत्य चात्ममहिमोपरतः स आस्ते॥११॥

हे राजन्! इस प्रकार परमात्माकी देहधारियोंके समान की हुई जन्म और मरण आदि क्रियाओंको तुम नटकी मायामयी लीलाओंके समान ही समझो। वे इस जगत्‌को अपने आपहीसे रचकर इसमें प्रवेश करके विहार करते हैं और अन्तमें इसे अपनेहीमें लीन करके अपनी महिमामें स्थित हो जाते हैं।

मर्त्येन यो गुरुसुतं यमलोकनीतं
त्वां चानयच्छरणदः परमास्त्रदग्धम्।
जिग्येऽन्तकान्तकमपीशमसावनीशः
किं स्वावने स्वरनयन्मृगयुं सदेहम्॥१२॥

जो मृत्युद्वारा ले जाये गये गुरुपुत्रको यमलोकसे उसी मर्त्य-शरीरके द्वारा ले आये, जिन शरणप्रद प्रभुने गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होते हुए तुम्हारी रक्षा की, युद्धमें कालके भी काल महादेवजीको परास्त किया और अत्यन्त अपराधी व्याधको स्वर्गलोक दिया, क्या वे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे?

तथाप्यशेषस्थितिसम्भवाप्यये-
ष्वनन्यहेतुर्यदशेषशक्तिधृक्।

नैच्छत्प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं
मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन् ॥१३॥

तथापि उन सर्वशक्तिधारी प्रभुने, जो सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके अनन्य कारण हैं, आत्मनिष्ठ पुरुषोंकी यह गति दिखलानेके लिये कि इस मर्त्य-शरीरका कोई प्रयोजन नहीं है अपने लीलामय मानव-देहको अवशिष्ट रखना नहीं चाहा। [अन्यथा आत्मनिष्ठ पुरुष भी दिव्यगतिकी उपेक्षा कर योगबलसे शरीरको स्थिर रख मर्त्यभोगोंको भोगते रहनेका प्रयत्न करने लगेंगे।]

य एतां प्रातरुत्थाय कृष्णस्य पदवीं पराम् ।
प्रयतः कीर्तयेद्भक्त्या तामेवाप्नोत्यनुत्तमाम् ॥१४॥

जो पुरुष प्रातःकाल उठकर श्रीकृष्णचन्द्रके परमपद-प्रयाण-की इस कथाको भक्ति और प्रीतिपूर्वक पढ़ेगा वह उसी सर्वोत्तम गतिको प्राप्त हो जायगा ।

दारुको द्वारकामेत्य वसुदेवोग्रसेनयोः ।
पतित्वा चरणावस्रैर्न्यषिञ्चत्कृष्णविच्युतः ॥१५॥

इधर, कृष्ण-विरहसे व्याकुल हुआ दारुक द्वारकामें आया और अति विह्वल होकर राजा उग्रसेन और वसुदेवजीके चरणोंमें गिरकर उन्हें आँसुओंसे भिगोने लगा ।

कथयामास निधनं वृष्णीनां कृत्स्नशो नृप ।
तच्छ्रुत्वोद्विग्नहृदया जनाः शोकविमूर्च्छिताः ॥१६॥
तत्र स्म त्वरिता जग्मुः कृष्णविश्लेषविह्वलाः[1] ।
व्यसवः शेरते यत्र ज्ञातयो घ्नन्त आननम् ॥१७॥

हे राजन् ! तदनन्तर उसने उन्हें यदुवंशियोंके विनाशका

१. पा०—'कृष्ण कृष्णेति विह्वलाः' ।

सम्पूर्ण समाचार कह सुनाया। इस कुसमाचारको सुनते ही सब लोग उद्विग्नचित्त होकर शोकसे मूर्च्छित हो गये और तुरन्त ही भगवान् कृष्णके वियोगसे व्याकुल होकर शिर पीटते हुए जहाँ अपने बन्धु-बान्धव मरे पड़े थे वहाँ पहुँच गये।

देवकी रोहिणी चैव वसुदेवस्तथा सुतौ।
कृष्णरामावपश्यन्तः शोकार्ता विजहुः स्मृतिम्॥१८॥
प्राणांश्च विजहुस्तत्र भगवद्विरहातुराः।
उपगुह्य पतींस्तात[1] चितामारुरुहुः स्त्रियः॥१९॥
रामपत्न्यश्च तद्देहमुपगुह्याग्निमाविशन्।
वसुदेवपत्न्यस्तद्गात्रं प्रद्युम्नादीन्हरेः स्नुषाः।
कृष्णपत्न्योऽविशन्नग्निं रुक्मिण्याद्यास्तदात्मिकाः॥२०॥

देवकी, रोहिणी, वसुदेवजी तथा अन्य बड़े-बूढ़े कृष्ण, बलराम और अपने अन्यान्य पुत्रोंको न देखकर चेतनाशून्य होकर गिर पड़े और उन्होंने भगवद्विरहसे आतुर होकर वहीं अपने प्राण छोड़ दिये। अपने-अपने स्वामियोंके साथ स्त्रियाँ चिताओंपर चढ़ गयीं, बलरामजीकी स्त्रियोंने उनके देहका आलिङ्गन करके अग्निमें प्रवेश किया, वसुदेवजीकी स्त्रियाँ उनके शरीरको लेकर चितामें चढ़ गयीं, भगवान्की पुत्रवधुओंने प्रद्युम्नादिके साथ अग्निमें प्रवेश किया, तथा भगवान् कृष्णचन्द्रकी रुक्मिणी आदि पटरानियाँ तद्गतचित्तसे उन्हींका स्मरण करती हुई अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं।

अर्जुनः प्रेयसः सख्युः कृष्णस्य विरहातुरः।
आत्मानं सान्त्वयामास कृष्णगीतैः सदुक्तिभिः॥२१॥

अर्जुन अपने परमप्रिय सखा भगवान् कृष्णके विरहसे

---

१. पा०—'ता वै'।

अत्यन्त दुःखी हुए, किन्तु उन्होंने श्रीकृष्णचन्द्रके ही दिये हुए (गीतोक्त) सदुपदेशसे अपनेको ढाढस बँधाया ।

बन्धूनां नष्टगोत्राणामर्जुनः साम्परायिकम् ।
हतानां कारयामास यथावदनुपूर्वशः ॥२२॥

फिर जिनका वंश नष्ट हो गया था उन मृत-बन्धुओंके लिये अर्जुनने शास्त्रविधिसे समस्त और्ध्वदैहिक कृत्य किये ।

द्वारकां हरिणा त्यक्तां समुद्रोऽप्लावयत्क्षणात् ।
वर्जयित्वा महाराज[1] श्रीमद्भगवदालयम् ॥२३॥

हे महाराज ! श्रीहरिके त्याग देनेपर भगवान्‌के मन्दिरको छोड़कर शेष सम्पूर्ण द्वारकापुरीको समुद्रने एक क्षणमें डुबो दिया ।

नित्यं सन्निहितस्तत्र भगवान्मधुसूदनः ।
स्मृत्याशेषाशुभहरं सर्वमङ्गलमङ्गलम् ॥२४॥

उस मन्दिरमें भगवान् मधुसूदन सदैव विराजते हैं; वह स्मरणमात्रसे समस्त अशुभोंका नाश करनेवाला और सम्पूर्ण मङ्गलोंमें अत्यन्त मङ्गलमय है ।

स्त्रीबालवृद्धानादाय हतशेषान्धनञ्जयः ।
इन्द्रप्रस्थं समावेश्य[2] वज्रं तत्राभ्यषेचयत् ॥२५॥

तदनन्तर मरनेसे बचे हुए स्त्री, बालक और वृद्धोंको साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ आये और वहाँ अनिरुद्धके पुत्र वज्रका राज्याभिषेक किया ।

श्रुत्वा सुहृद्वधं राजन्नर्जुनात्ते पितामहाः ।
त्वां तु वंशधरं कृत्वा जग्मुः सर्वे महापथम् ॥२६॥

१. पा०—'महाभाग' । २. पा०—'समाविश्य' ।

हे राजन् ! तुम्हारे पितामह पाण्डवगण, अर्जुनसे अपने सुहृद् यादवोंके नाशका समाचार सुनकर, अपने वंशधर तुमको राज्यपदपर अभिषिक्त करके महापथको चले गये ।

य एतद्देवदेवस्य विष्णोः कर्माणि जन्म च ।
कीर्तयेच्छ्रद्धया मर्त्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥२७॥

जो मनुष्य देवाधिदेव भगवान् विष्णुके इन दिव्य-जन्म और कर्मोंका श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता है वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है ।

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥२८॥

इस प्रकार यहाँ तथा अन्य ग्रन्थोंमें कहे हुए भगवान् श्रीहरिके इस अति मनोहर अवतारके पराक्रम तथा बाल-चरित्रोंको सुनकर उनका गान करते रहनेसे मनुष्य परमहंसोंके गति-स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रमें परम भक्ति प्राप्त करता है ।

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे एकादशस्कन्धे एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥३१॥

समाप्तोऽयमेकादशस्कन्धः ।

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।
तेन त्वत्पादसक्तानां पादासक्तिं प्रयच्छ मे ॥



गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ दिया गया है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मूल्य साधारण जिल्द २॥) बढ़िया कपड़ेकी जिल्द २।॥)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र, मूल्य ... ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–गुजराती टीका, नंबर दोकी तरह, मूल्य ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वालीके समान मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥≲) सजिल्द ... ॥।≈)

श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह, मूल्य ... ॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥) सजिल्द ॥≲)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।−) सजिल्द ।≲)

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, इसमें श्लोक नहीं हैं। अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मूल्य ।) सजिल्द ... ... ।≈)

पञ्चरत्न गीता–सचित्र, पृष्ठ ३२८, मूल्य सजिल्द ... ।)

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ॥) वालीके समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य =)॥ सजिल्द ... ≲)॥

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल तावीजी, साइज २×२॥ इञ्च सजिल्द ... =)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द −)॥

श्रीमद्भगवद्गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य −)

ईशावास्योपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य ≲)

केनोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ॥)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कठोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ||-)
मुण्डकोपनिषद्–सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२, मूल्य |≋)
प्रश्नोपनिषद्–सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य |≋)
उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य ... ... २|-)
माण्डूक्योपनिषद्–श्रीगौडपादीय कारिकासहित, सानुवाद शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ३००, मूल्य ... ... १)
तैत्तिरीयोपनिषद्–सानुवाद शांकरभाष्यसहित सचित्र, पृ० २५२, मू० |||-)
ऐतरेयोपनिषद्–सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १०४, मू० |=)
उपरोक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें स०(उपनिषद्-भाष्य खण्ड२)मू०२|=)
श्रीविष्णुपुराण–हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ हैं, पृष्ठ ५४८, मूल्य साधारण जिल्द २||), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द ... ... २|||)
अध्यात्मरामायण–सटीक, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ हैं, दूसरा संस्करण छप गया है। मू० १|||) सजिल्द २)
प्रेम-योग–सचित्र, लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मूल्य १|) सजिल्द ... १||)
भक्तियोग–सचित्र, पृष्ठ ७०८, मूल्य ... १=)
श्रीतुकाराम-चरित्र–१ चित्र, पृष्ठ ६९४, मूल्य १≋) सजिल्द ... १||)
भागवतरत्न प्रह्लाद–३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द ... १|)
विनय-पत्रिका–सरल हिन्दी-भावार्थसहित, ६ चित्र, अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, तीसरा संस्करण, भावार्थमें अनेकों आवश्यक संशोधन किये गये हैं तथा परिशिष्टमें कथाभागके ३७ पृष्ठ और जोड़ देनेपर भी मूल्य १) सजिल्द ... १|)
गीतावली–सटीक, अनु०–श्रीमुनिलालजी, इसमें रामायणकी तरह सात काण्डोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंका भजनोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पृष्ठ ४६०, ८ चित्र, मूल्य १) सजिल्द १|)
श्रीकृष्ण-विज्ञान–श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद, दो चित्र, पृष्ठ २७५, मोटा कागज, मूल्य |||) सजिल्द ... १)
श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)–सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी बड़ी जीवनी, पृष्ठ ३६०, मूल्य |||=) सजिल्द ... १=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २)–सचित्र, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ, पृष्ठ ४५०, ९ चित्र, मूल्य १=) सजिल्द ... १।=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली–(खण्ड ३)–पृष्ठ ३८४, ११ चित्र, मूल्य १) सजिल्द ... ... १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली–(खण्ड ४)–पृष्ठ २२४, १४ चित्र, मूल्य ।।=) सजिल्द ... ... ।।।=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली–(खण्ड ५)–पृष्ठ २८०, १० चित्र, मू० ।।।)स० १)

मुमुक्षुसर्वस्वसार–भाषासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।–) सजिल्द १–)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–सचित्र, ले०—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्‌में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके बर्तावमें सत्य व्यवहार और सबसे प्रेम एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। पृष्ठ ३५०, मूल्य ।।=) सजिल्द ... ।।।–)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १–(छोटे आकारका संस्करण) सचित्र, पृष्ठ ४४८, मूल्य ।–) सजिल्द ... ... ।=)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २–सचित्र, इसमें लोक और परलोकके सुख-साधनकी राह बतानेवाले सुविचारपूर्ण सुन्दर-सुन्दर लेखोंका अति उत्तम संग्रह है। पृष्ठ ६३२, मूल्य ।।।=) सजिल्द ... १=)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २–(छोटे आकारका संस्करण) सचित्र, मूल्य ।=) सजिल्द ... ... ।।)

पूजाके फूल–नयी पुस्तक, सचित्र, पृष्ठ ४१४, मूल्य ...।।।–)

श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र और ग्रन्थ-विवेचन–दक्षिणके प्रसिद्ध, सबसे अधिक प्रभावशाली भक्त('श्रीज्ञानेश्वरी गीता'के कर्ता) की जीवनदायिनी जीवनी और उनके उपदेशोंका नमूना। सचित्र, पृष्ठ ३५६, मू०।।।–)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध–यह स्कन्ध बहुत ही उपदेशपूर्ण है, सचित्र, सटीक, पृष्ठ ४२०, मूल्य केवल ।।।) सजिल्द १)

देवर्षि नारद–२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर छपाई, मूल्य ।।।) सजिल्द ... ... १)

शरणागतिरहस्य–सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ... ... ।।≈)

विष्णुसहस्रनाम–शांकरभाष्य हिन्दी टीकासहित, सचित्र, भाष्यके सामने ही उसका अर्थ छापा गया है। पृष्ठ २७५, मूल्य ... ।।=)

शतपञ्च चौपाई–सचित्र, पृष्ठ ३४०, मूल्य ... ।।=)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

सूक्ति-सुधाकर—सचित्र; पृष्ठ २७६; मूल्य ... ||=)

आनन्दमार्ग—सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ... ||-)

श्रुतिरत्नावली—लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, एक पेजमें मूल श्रुतियाँ और उसके सामनेके पेजमें उनके अर्थ हैं, पृष्ठ २८४, मूल्य ||)

स्तोत्ररत्नावली—हिन्दी-अनुवादसहित, सचित्र; मूल्य ... ||)

दिनचर्या—(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करनेयोग्य धार्मिक बातोंका वर्णन, नित्यपाठके योग्य स्तोत्र और भजनोंसहित, मूल्य ... ||)

तुलसीदल—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, इसमें छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक, विद्वान्-मूर्ख, भक्त-ज्ञानी, गृहस्थी-त्यागी, कला और साहित्यप्रेमी सबके लिये कुछ-न-कुछ उन्नतिका मार्ग मिल सकता है। पृष्ठ २९२, सचित्र, मूल्य ||) सजिल्द ... ... ||≡)

श्रीएकनाथ-चरित्र—ले० हरिभक्तिपरायण पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर; भाषान्तरकार—पं० श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे। हिन्दीमें एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक नहीं देखी। मूल्य ||)

नैवेद्य—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका सचित्र नया सुन्दर ग्रन्थ, पृष्ठ ३५०, मूल्य ||) सजिल्द ||≡)

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सचित्र) इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञानभरे उपदेशोंका संग्रह है। पृष्ठ २५०, मूल्य ... |≡)

भक्त-भारती—७ चित्र, कवितामें ७ भक्तोंकी सरल कथाएँ, मूल्य |≡)

धूपदीप—ले०—श्री'माधव' जी, पृष्ठ-संख्या २४०, सचित्र, मूल्य |≡)

तत्त्वविचार—सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ... ... |=)

उपनिषदोंके चौदह रत्न—पृष्ठ १००, चित्र १०, मूल्य ... |=)

विवेक-चूडामणि—(सानुवाद, सचित्र) पृष्ठ २२४, मूल्य |-)

गीतामें भक्तियोग—(सचित्र) लेखक—श्रीवियोगी हरिजी, मूल्य |-)

भक्त बालक—गोविन्द, मोहन आदि बालक भक्तोंकी कथाएँ हैं, मूल्य |-)

भक्त नारी—स्त्रियोंमें धार्मिक भाव बढ़ानेके लिये बहुत उपयोगी कथाएँ हैं, पृष्ठ ८०, ६ चित्र, मूल्य ... ... |-)

भक्त-पञ्चरत्न—यह पाँच कथाओंकी पुस्तक सद्गृहस्थोंके लिये बड़े कामकी है; पृष्ठ ९८; ६ चित्र, मूल्य ... |-)

आदर्श भक्त—राजा शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष आदिकी कथाएँ, पृष्ठ ११२, ७ चित्र, मूल्य ... ... |-)
भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी मनोहर गाथाएँ, पृष्ठ १०६, ७ चित्र, मू० |-)
भक्त-चन्द्रिका—भगवान्‌के प्यारे भक्तोंकी मीठी-मीठी बातें, ७ चित्र, मू० |-)
भक्त-कुसुम—छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य प्रेमभक्तिपूर्ण ग्रन्थ, पृष्ठ ९१, ६ चित्र, मूल्य ... ... |-)
प्रेमी भक्त—पृष्ठ १०३, ६ चित्रोंसे सुशोभित, मूल्य ... |-)
प्रेम-दर्शन—(नारदरचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकृत) पृष्ठ २००, मूल्य ... |-)
गृह्याग्निकर्मप्रयोगमाला—हिन्दी-संस्कृत, पृष्ठ १८२, मूल्य ... |-)
यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ—पृष्ठ ९२, ३ चित्रोंसे सुशोभित, मूल्य ... |)
व्रजकी झाँकी—वर्णनसहित लगभग ५० चित्र, मूल्य ... |)
श्रीबदरी-केदारकी झाँकी—सचित्र, मूल्य ... ... |)
परमार्थ-पत्रावली—श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका स्वर्णसंग्रह, पृष्ठ १४४, एण्टिक कागज, मूल्य ... |)
माता—श्रीअरविन्दकी अंग्रेजी पुस्तक (Mother) का हिन्दी अनुवाद, मूल्य ... ... |)
ज्ञानयोग—श्रीभवानीशंकरजीके ज्ञानयोगसम्बन्धी उपदेश, पृष्ठ १२५, मूल्य |)
कल्याणकुञ्ज—सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ... ... |)
प्रबोध-सुधाकर—(सानुवाद, सचित्र) इसमें विषयभोगोंकी तुच्छता दिखाते हुए आत्मसिद्धिके उपाय बताये गये हैं, मूल्य ... ≈)||
मानव-धर्म—ले०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ११२, मूल्य ... ≈)
प्रयागमाहात्म्य—(सचित्र) पृष्ठ ६४, मूल्य ... =)||
माघमकरप्रयागस्नानमाहात्म्य—(सचित्र) पृष्ठ ९४, मूल्य ... =)||
गीता-निबन्धावली—गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये उपयोगी है। यह गीता-परीक्षाकी मध्यमाकी पढ़ाईमें रक्खी गयी है, मूल्य =)||
साधन-पथ—ले०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ७२, मू० =)||
वेदान्त-छन्दावली—ले०—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, मूल्य ... =)||
अपरोक्षानुभूति—मूल श्लोक और अर्थसहित, सचित्र, मूल्य ... =)||
मनन-माला—यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, मूल्य ... =)||

चित्रकूटकी झाँकी =)
भजन-संग्रह प्र०भा०=)
,, द्वितीय भाग =)
,, तृतीय भाग =)
,, चतुर्थ भाग =)
,, पञ्चम भाग =)
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी =)
शतश्लोकी हिन्दी-
अनुवादसहित मू० =)
आनन्दकी लहरें-
सचित्र, मूल्य -)॥
गोपी-प्रेम-सचित्र पृष्ठ
५०, मूल्य -)॥
गोविन्द-दामोदर-
स्तोत्र-सार्थ पृष्ठ
३७, मूल्य -)
मनुस्मृति द्वितीय
अध्याय सार्थ,मू० -)॥
हनुमानबाहुक-सचित्र
सटीक, मूल्य -)॥
मनको वश करनेके कुछ
उपाय, सचित्र -)।
गीताका सूक्ष्म
विषय -)।
ईश्वर-मूल्य -)।
मूल गोसाईं-चरित-)।
मूल रामायण -)।
श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश-)
त्यागसे भगवत्प्राप्ति-)
भगवान् क्या हैं?)॥
ब्रह्मचर्य -)

समाज-सुधार -)
एक संतका अनुभव -)
आचार्यके सदुपदेश-)
सत-महाव्रत -)
वर्तमान शिक्षा-ले०-
श्रीहनुमानप्रसादजी
पोद्दार, पृष्ठ ४५,-)
शारीरकमीमांसा-
दर्शन)॥।
सन्ध्या हिन्दी-
विधिसहित)॥
भगवत्प्राप्तिके विविध
उपाय-पृष्ठ ३५,)॥
बलिवैश्वदेवविधि)॥
सच्चा सुख और उसकी
प्राप्तिके उपाय -)
रामगीता सटीक)॥।
विष्णुसहस्रनाम-मूल,
मू०)॥।, स० -)॥
हरेरामभजन२माला)॥।
,, १४ माला ।-)
सत्यकी शरणसे
मुक्ति-पृष्ठ ३२,)॥
गीतोक्त सांख्ययोग
और निष्कामकर्म-
योग-मूल्य)॥
व्यापारसुधारकी
आवश्यकता और
व्यापारसे मुक्ति-
पृष्ठ ३२, मूल्य)॥
सीतारामभजन)॥
सेवाके मन्त्र)॥

प्रश्नोत्तरी सटीक)॥
पातञ्जलयोगदर्शन
मूल, मूल्य)।
धर्म क्या है?)।
दिव्य सन्देश)।
कल्याण-भावना)।
श्रीहरिसंकीर्तनधुन)।
नारद-भक्ति-सूत्र
(सार्थ गुटका))।
ईश्वर दयालु और
न्यायकारी है)।
प्रेमका सच्चा स्वरूप)।
महात्मा किसे
कहते हैं?)।
हमारा कर्तव्य)।
ईश्वर-साक्षात्कारके
लिये नामजप सर्वोपरि
साधन है)।
लोभमें पाप आधा पैसा
गजलगीता ,,
सप्तश्लोकी गीता,,
The Story of Mira Bai-P. 96. As. 10
Mind: Its Mysteries & Control-P. 200, price As. 8
Self-Culture-P. 38, price As. 4.
The Immanence of God-As. 2
रामायणांक २॥≥)

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर**